ISSN 2277-5897 SABLOG
PEER REVIEWED JOURNAL

लोक चेतना का राष्ट्रीय मासिक

124

सबलोग

नवम्बर-दिसम्बर 2023 • मूल्य ₹ 40

चुनाव किस करवट

- आदिवासी राजनीति की पिच पर भाजपा
- भारतीय समाज और राजनीति का आरक्षण
- भारत का भविष्य और ज्ञान-संस्कृति

जीवन में सबसे ज्यादा
मैंने प्रतीक्षा ही की है।
बड़े होने की, खुद अकेले कहीं
निकल जाने की,
दुनिया बदलने की,
किसी के प्यार की।

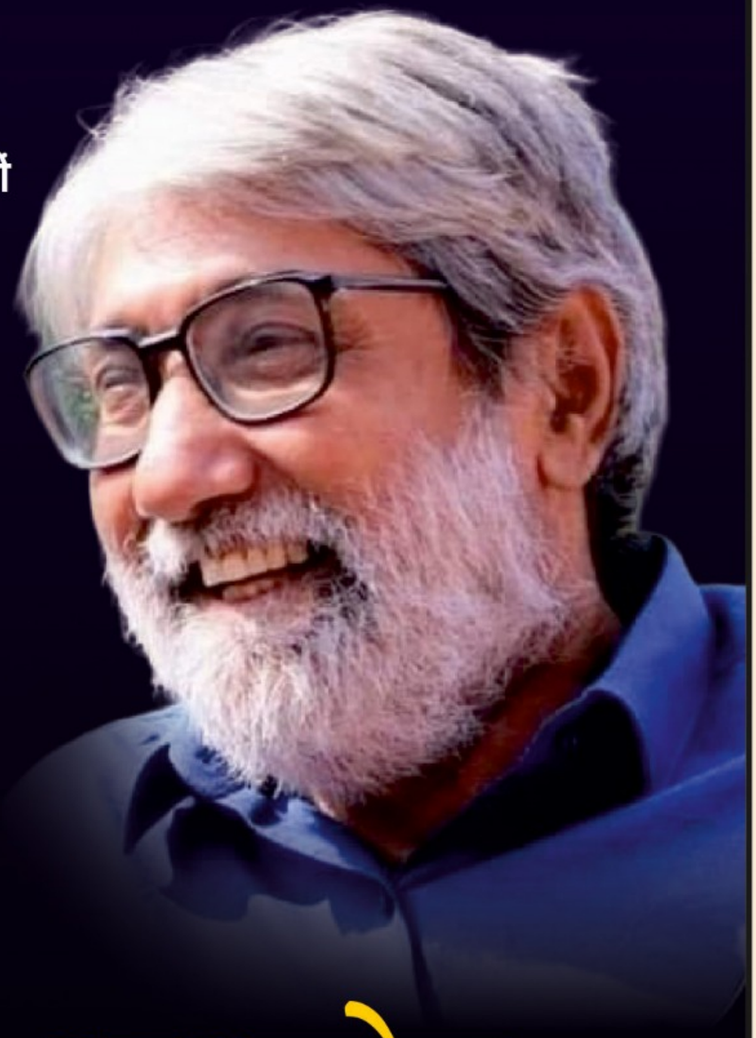

आशुतोष

06 फरवरी 1958 –14 नवम्बर 2023

एक भयावह दुर्घटना में 14 नवम्बर 2023 को कवि, चिन्तक एवं विचारक आशुतोष हमें छोड़ कर चले गये। वे विद्यासागर महिला महाविद्यालय, कोलकाता से हिन्दी के सेवानिवृत्त प्रोफेसर थे और सबलोग के पीयर रिव्यू कमिटी के सदस्य थे। पत्रिका को उनसे समय समय पर बहुमूल्य सलाह प्राप्त होती थी। इस तरह उनके अचानक चले जाने से सबलोग परिवार, शिक्षा, सामाजिक एवं राजनीतिक चिन्तन से जुड़ा जगत शोकाकुल है।

सबलोग परिवार की ओर से उन्हें विनम्र श्रद्धांजलि...

सबलोग-124

वर्ष 14, अंक 10, नवम्बर-दिसम्बर 2023

प्रकाशन 25.11.2023

ISSN 2277-5897 SABLOG

PEER REVIEWED JOURNAL

सम्पादक

किशन कालजयी

संयुक्त सम्पादक

प्रकाश देवकुलिश

राजन अग्रवाल

ब्यूरो

उत्तर प्रदेश : शिवाशंकर पाण्डेय

मध्यप्रदेश : जावेद अनीस

बिहार : कुमार कृष्णन

उत्तराखण्ड : सुप्रिया रतूड़ी

झारखण्ड : विवेक आर्यन

समीक्षा समिति (Peer Review Committee)

आनन्द कुमार

सुबोध नारायण मालाकार

मणीन्द्र नाथ ठाकुर

सफदर इमाम कादरी

मधुरेश

आनन्द प्रधान

मंजु रानी सिंह

महादेव टोप्पो

विजय कुमार

आशा

सन्तोष कुमार शुक्ल

अखलाक 'आहन'

प्रबन्ध निदेशक

अभय कुमार झा

सम्पादकीय सम्पर्क

बी-3/44, तीसरा तल, सेक्टर-16,

रोहिणी, दिल्ली-110089

+918340436365

sablogmonthly@gmail.com, sablog.in

वेब सहायक : गुलशन कुमार चौधरी

सदस्यता शुल्क

एक अंक : 40 रुपए–वार्षिक : 450 रुपए

द्विवार्षिक : 900 रुपए – आजीवन : 5000 रुपए

सबलोग

खाता संख्या-49480200000045

बैंक ऑफ बड़ौदा, शाखा-बादली, दिल्ली

IFSC-BARB0TRDBAD

(Fifth Charecter is Zero)

स्वामी, सम्पादक, प्रकाशक व मुद्रक किशन कालजयी द्वारा बी-3/44, सेक्टर-16, रोहिणी, दिल्ली-110089 से प्रकाशित और लक्ष्मी प्रिन्टर्स, 556 जी.टी. रोड शाहदरा दिल्ली-110032 से मुद्रित।

पत्रिका में प्रकाशित आलेखों में व्यक्त विचार लेखकों के हैं, उनसे सम्पादकीय सहमति अनिवार्य नहीं।

पत्रिका अव्यावसायिक और सभी पद अवैतनिक।

पत्रिका से सम्बन्धित किसी भी विवाद के लिये न्यायक्षेत्र दिल्ली।

संवेद फाउण्डेशन का मासिक प्रकाशन

चुनाव किस करवट

एक चुनाव दूसरे चुनाव के लिए : **अनिल चमड़िया** 4

क्या लोकतन्त्र को ऑक्सीजन दे पाएगा चुनाव : **अरुण कुमार त्रिपाठी** 6

काँग्रेस का नैरेटिव बनाम भाजपा का मैनेजमेन्ट : **राजेन्द्र तिवारी** 8

चुनाव देश को गढ़ने का होना चाहिए : **अमन नम्र** 11

क्या फिर से 'फीनिक्स' बनकर उभरेंगें शिवराज : **जावेद अनीस** 13

चुनावी रण राजस्थान का : **प्रमोद मीणा** 15

तेलांगना का चुनावी समीकरण : **के शक्तिराज** 18

राजस्थान में ऊँट किस करवट : **शैलेन्द्र चौहान** 20

'हाथ' में खिल सकता है 'कमल' : **रमेश कुमार 'रिपु'** 23

सृजनलोक

छः कविताएँ : **जोशना बैनर्जी आडवानी,** टिप्पणी : **हृषीकेश सुलभ** 25

साक्षात्कार

गाँधीजी की पत्रकारिता लोक शिक्षण की पत्रकारिता है : **अच्युतानन्द मिश्र** से **पुखराज जाँगिड़** की बातचीत 27

राज्य

उत्तर प्रदेश / इण्डिया बनाम एनडीए वाया फूलपुर : **शिवा शंकर पांडेय** 31

झारखण्ड / आदिवासी राजनीति की पिच पर भाजपा : **विवेक आर्यन** 33

स्तम्भ

चतुर्दिक / परसाई को सुनें : **रविभूषण** 35

यत्र-तत्र / सूचना और साहित्य : **जय प्रकाश** 38

कथित-अकथित / भारत-योरोप आर्थिक गलियारा : **धीरंजन मालवे** 41

तीसरी घण्टी / सत्ता के दबाव से रंगमंच का बिगड़ता चेहरा : **राजेश कुमार** 43

कविताघर / क्योंकि कविता उपभोग का सामान नहीं होती : **प्रियदर्शन** 46

विविध

शोध लेख / जी-20 के सदस्य के रूप में अफ्रीकी संघ : **रूबल रानी शर्मा** 48

चिन्तन / हिन्द स्वराज : एक वायलन समन्दर किनारे : **प्रवीण कुमार** 52

सामयिक / तालाब ठाकुर का : **राम नरेश राम** 55

मुद्दा / भारतीय समाज और राजनीति का आरक्षण : **राकेश रंजन** 57

वैचारिकी / क्यों करें सप्ताह में सत्तर घण्टे काम : **प्रेरणा** 61

समाज / भारत का भविष्य और ज्ञान-संस्कृति : **राजीव रंजन प्रसाद** 62

सिनेमा / जवान की ललकार : **रक्षा गीता** 64

लिये लुकाठी हाथ / डॉलर वाले बैंगन जी : **नूपुर अशोक** 66

आवरण : शशिकान्त सिंह

अगला अंक : हम भारत के लोग

एक चुनाव दूसरे चुनाव के लिए

अनिल चमड़िया

आवरण कथा

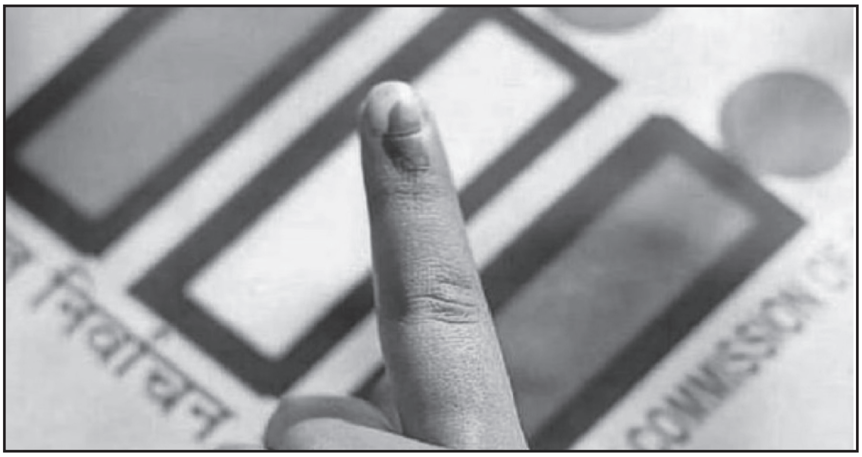

95 प्रतिशत आबादी नागरिक के रूप में चुनाव लड़ने की प्रक्रिया से बाहर हो चुकी है और वह सिर्फ वोट की मशीन का बटन दबाने वाली एक मशीन की तरह हो गयी है। इन्दिरा गाँधी भी गरीबी मिटाने की बात करती थीं और नरेन्द्र मोदी भी अस्सी करोड़ लोगों को पाँच किलो का थैला अगले पाँच वर्षों तक जारी रखने का ऐलान करते नहीं थक रहे हैं। इसके साथ देश को आत्मनिर्भर बनाने का ऐलान कितना विरोधाभासी लगता है।

मतदाता क्या अगली पीढ़ी को यह भरोसा दिलाता है कि वह किसी राजनीतिक पार्टी या उम्मीदवार के पक्ष में वोट देने के अपने फैसले से नागरिक समाज के बनने में सहायक होने की जिम्मेदारी पूरा करेगा, यह एक बड़ा सवाल यहाँ उठाना चाहते हैं। चुनाव अगले चुनाव के लिए हो रहे हैं, विचारों को चुनावी समाज तक सीमित कर देने के गम्भीर नतीजे दिखने लगे हैं। (लेखक)

हम पाँच राज्यों छत्तीसगढ़, राजस्थान, मध्यप्रदेश, तेलंगाना और मिजोरम के चुनाव के नतीजे और उसके 2024 के लोकसभा चुनाव पर होने वाले असर को लेकर बातचीत करने की सीमा में बँधे हुए हैं। राज्यों में लड़ाई तीन तरफा है। एक तरफ दो राष्ट्रीय स्तर की कही जाने वाली पार्टियाँ–काँग्रेस और भारतीय जनता पार्टी है तो दूसरी तरफ वे पार्टियाँ हैं जिन्हें हम राज्य स्तरीय या क्षेत्रीय पार्टियाँ कहते हैं। लेकिन गणतन्त्र में सत्ता के विकेन्द्रीकरण की जो अवधारणा होती है उस स्वर का प्रतिनिधित्व क्षेत्रीय पार्टियाँ ही करती हैं। राष्ट्रीय पार्टियाँ आखिरकार सत्ता के केन्द्रीकरण के पक्ष में होती हैं। काँग्रेस और भारतीय जनता पार्टी की केन्द्र में सत्ता के अनुभव से भी यह हासिल होता है।

दूसरी बात कि भारतीय चुनावी राजनीति में यह मान लेना कि राज्यों के चुनाव नतीजे संसद के चुनाव को प्रभावित कर सकते हैं, यह पक्के तौर पर नहीं कहा जा सकता है। दिल्ली में आम आदमी पार्टी की राज्य स्तरीय जीत हो सकती है लेकिन दिल्ली में लोकसभा में एक भी सीट पर वह कामयाब नहीं हो सकती है। ऐसे बहुतेरे उदाहरण हैं। चुनावी लोकतन्त्र के शुरूआती दौर में यह धारणा बनी थी कि किसी उपचुनाव के नतीजे भी संसदीय चुनाव के नतीजों के संकेत दे सकते हैं। मसलन जब चिकमगलूर से इन्दिरा गाँधी ने लोकसभा के लिए चुनाव जीता तो यह संकेत मिलने लगे थे कि 1977 में बुरी तरह से पराजित होने वाली इन्दिरा गाँधी और उनकी पार्टी की 1980 में ही शानदार वापसी हो सकती है। राज्यों के लिए किसी अन्य पार्टी के नेतृत्व के नाम पर मतदान का बहुमत हिस्सा जा सकता है तो वही हिस्सा केन्द्र में सत्ता के लिए किसी और पार्टी अथवा नेतृत्व के नाम की तरफ लुढक सकता है। इसका यह अर्थ लगता है कि विचारधारा के स्तर पर पार्टियों में जो दूरियाँ थीं वह सिमटती चली गयी हैं। यानी चुनावी लोकतन्त्र में पार्टियाँ एक दूसरे की छाया प्रति होती चली गयी हैं और चुनाव नतीजे इस बात पर निर्भर करने लगे हैं कि चुनाव जीतने की तैयारी किसने किस तरह से की है।

तीसरी बात यह है कि गवर्नेंश का अर्थ मतदाताओं को सत्ता से लालच की संस्कृति विकसित करने की तरफ ले जाना

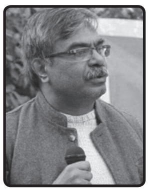

लेखक मीडिया शोध पत्रिका 'जन मीडिया' हिन्दी और 'मास मीडिया' अँग्रेजी के सम्पादक हैं।
+919868456745
namwale@gmail.com

और विचारधारात्मक स्तर पर वर्चस्ववाद को मजबूत करने का एक मिश्रित माध्यम में चुनावी लोकतन्त्र विकसित हुआ है। गरीबी की सबसे ज्यादा बातें होती हैं लेकिन चुनाव अमीर लड़ते हैं। 95 प्रतिशत आबादी नागरिक के रूप में चुनाव लड़ने की प्रक्रिया से बाहर हो चुकी है और वह सिर्फ वोट की मशीन का बटन दबाने वाली एक मशीन की तरह हो गयी है। इन्दिरा गाँधी भी गरीबी मिटाने की बात करती थीं और नरेन्द्र मोदी भी अस्सी करोड़ लोगों को पाँच किलो का थैला अगले पाँच वर्षों तक जारी रखने का ऐलान करते नहीं थक रहे हैं। इसके साथ देश को आत्मनिर्भर बनाने का ऐलान कितना विरोधाभासी लगता है लेकिन चुनावी लोकतन्त्र की भाषा में यह खासियत के रूप में प्रतिष्ठित हैं। अमीरी और चुनावी लोकतन्त्र का रिश्ता स्थापित हुआ है। अपराध चुनावी लोकतन्त्र में प्रतियोगिता के लिए राजनीतिक पार्टियों के बीच स्वीकार्य हुआ है। मतदाता नागरिक के रूप में कमजोर हुआ है। इसका कोई डाटा या ग्राफिक्स किसी चुनावी नतीजे से नहीं निकलता है। उसकी झलक बस कई तरह की घटनाओं में मिलती है। चुनावी लोकतन्त्र में सबसे ज्यादा बातें धर्म निरपेक्षता की हुई हैं लेकिन चुनावी प्रतियोगिता में जाति और साम्प्रदायिकता खून की तरह दौड़ती है। संविधान का इस्तेमाल सत्ता और सत्ता पर वर्चस्व रखने वाली विचारधारा की वस्तु बन गयी है।

राज्य	मतदान	मतदाता	सीटें	बहुमत
मध्य प्रदेश	17 नवंबर	5.6 करोड़	230	116
राजस्थान	23 नवंबर	5.25 करोड़	200	101
छत्तीसगढ़	7, 17 नवंबर	2.03 करोड़	90	46
मिजोरम	7 नवंबर	8.52 लाख	40	21
तेलंगाना	30 नवंबर	3.17 करोड़	119	60

अमीरी और चुनावी लोकतन्त्र का रिश्ता स्थापित हुआ है। अपराध चुनावी लोकतन्त्र में प्रतियोगिता के लिए राजनीतिक पार्टियों के बीच स्वीकार्य हुआ है। मतदाता नागरिक के रूप में कमजोर हुआ है। इसका कोई डाटा या ग्राफिक्स किसी चुनावी नतीजे से नहीं निकलता है। उसकी झलक बस कई तरह की घटनाओं में मिलती है। चुनावी लोकतन्त्र में सबसे ज्यादा बातें धर्म निरपेक्षता की हुई हैं लेकिन चुनावी प्रतियोगिता में जाति और साम्प्रदायिकता खून की तरह दौड़ती है। संविधान का इस्तेमाल सत्ता और सत्ता पर वर्चस्व रखने वाली विचारधारा की वस्तु बन गयी है।

इसे पाँच राज्यों के चुनावों के विश्लेषण व उसके नतीजों एवं उसके अगले चुनाव पर असर के बारे में बतौर पृष्ठभूमि लिखने की वजह यह है कि हम किसी एक बुरी राजनीतिक प्रवृति या विकसित की जा रही अलोकतान्त्रिक संस्कृति को लेकर एक चुनाव में हार जीत तक अपने विश्लेषण की सीमा को कैद करते जा रहे हैं। पाँच राज्यों में चुनाव से राजनीतिक पार्टियों के उम्मीदवार हारेंगे व जीतेंगे। लेकिन क्या इससे राजनीतिक स्तर पर जो चुनावी प्रतियोगिता का ढाँचा बन चुका है, उसमें बतौर नागरिक किसी स्तर पर हस्तक्षेप की कोई गुंजाइश दिखती है? पाँच राज्यों में यही तय होना है कि पहले से सत्ता को चलाने वाली पार्टियाँ और नेतृत्व रहेगा व बदल जाएगा। इसे ही मतदाताओं की जीत के रूप में दर्ज किया जाता है। यह बिडम्बना है कि चुनावी युद्ध जीतने की तैयारी राजनीतिक पार्टियाँ व उसके नेतृत्व द्वारा की जाती है और उसमें हर वह चीज शामिल होती है जो कि एक हित विरोधी दुश्मन को हराने के लिए जरूरी होने की मान्यता हासिल कर चुका है। यहाँ तक कि पाँच वर्षों के लिए होने वाले चुनाव में बहुमत हासिल करने के बाद भी जरूरी नहीं है कि सत्ता बहुमत हासिल करने वाली पार्टी की ही बनी रह सकती है।

पाँच राज्यों के चुनाव को इस नजरिए से देखा जा सकता है कि समाज में और सत्ता के जरिए आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक वर्चस्व के खिलाफ लड़ने की चेतना किस तरह से सक्रिय है और उसे किन रास्तों से भटकाने की कोशिश की जा रही है। चुनाव के नतीजों से समाज में एक नये ढाँचे के बनने और सत्ता के भीतर बनने वाले दमनकारी ढाँचे पर चोट मारने के लिए किस तरह की उर्जा और सांगठनिक क्षमता हासिल हो रही है, यह पड़ताल महत्त्वपूर्ण है। लोकतान्त्रिक चुनावों के विश्लेषण करने वालों व टिप्पणियाँ करने वालों के लिए एक बड़ी चुनौती यह है कि वह इस पर विचार करें कि नागरिक के सशक्तीकरण में किसी चुनाव की भूमिका क्या हो सकती है। चुनाव एक तरह से मतदाताओं का एक नये तरीके से स्वयं पुनर्गठित होने की प्रक्रिया होती है और वह अनुभवजनित होनी चाहिए ताकि मतदाता समूह अपने नागरिकपन और नागरिक समाज को सशक्त कर सके। एक मतदाता के एक वोट की गिनती महज एक में नहीं होती है। वह मतदाता आबादी के बड़े हिस्से का प्रतिनिधि होता है। यानी 18 वर्ष से कम उम्र की आबादी का वह किसी चुनाव में मतदाता के रूप में प्रतिनिधित्व करता है और उसे यह भरोसा दिलाने की जिम्मेदारी होती है कि अगली पीढ़ी को बेहतर नागरिकपन की परिस्थितियों के तैयार होने व नागरिक समाज के सुदृढ़ होने में उसका फैसला सहायक होगा। अभी यह स्थिति दिखती है कि राजनीतिक पार्टियाँ व उसके उम्मीदवार उन मतदाता समूहों को अपने प्रभाव व असर में लेने की हर स्तर पर कोशिश करते हैं जो महज वोटों की गिनती में सबसे ज्यादा नम्बर बनने में सहायक हो सके। चुनावी लोकतन्त्र का सांस्कृतिक रिश्ता नागरिक समाज के लिए बने, यह बड़ी चुनौती समाजिक विश्लेषकों की होनी चाहिए। ■

क्या लोकतन्त्र को ऑक्सीजन दे पाएगा चुनाव

अरुण कुमार त्रिपाठी

पाँच राज्यों के विधानसभा चुनावों में जीत हार से ज्यादा महत्त्वपूर्ण सवाल यह है कि क्या आईसीयू में चल रहे भारतीय लोकतन्त्र को इससे ऑक्सीजन मिल पाएगी? क्या किसानों, मजदूरों, मध्यवर्ग और युवाओं में इस चुनाव के माध्यम से व्यक्तिपूजा, अन्धभक्ति और राष्ट्रवाद की भावुक व नफरती अपील से आगे जाकर किसी नयी चेतना और संकल्प का संचार होगा? अगर काँग्रेस को बड़ी कामयाबी मिलती है या बीआरएस भी अपना राज्य बरकरार रख पाती है तो इस बात की उम्मीद बनती है कि लोकतान्त्रिक मूल्यों के लिए संघर्ष तेज होगा। लेकिन इस बात की गारण्टी नहीं कि इससे लोकतन्त्र बच ही जाएगा।

लेखक वरिष्ठ पत्रकार और स्तम्भकार हैं।
+919818801766
tripathiarunk@gmail.com

कोलकाता के एक बड़े अखबार के पत्रकार ने भोपाल और इन्दौर के युवाओं से जो बात की वह अपने में इस बात का द्योतक है कि इन दस वर्षों और खासकर मध्य प्रदेश में बीस वर्षों के भाजपा शासन में देश का मानस कितना बदल चुका है। मध्य प्रदेश के युवा भ्रष्टाचार, पेपरलीक, बुनियादी ढाँचे की कमी, शिक्षा का ऊँचा बजट, महँगाई वगैरह की बात तो करते हैं लेकिन उनके लिए न तो ढहता हुआ लोकतन्त्र कोई मुद्दा है और न ही सर्वधर्म समभाव व संवैधानिक नैतिकता। वे मानते हैं कि मोदी जबरदस्त काम कर रहे हैं और उन्होंने देश को विश्वगुरु बना दिया है, पूरी दुनिया में भारत का डंका बज रहा है। उनमें यह भी मान्यता है कि इससे पहले भारत को कोई जानता नहीं था। वे नहीं मानते कि इन्दिरा गाँधी ने 1971 में पाकिस्तान को विभाजित और बांग्लादेश बनाकर कोई चामत्कारिक काम किया और न ही वे यह मानते हैं कि देश में उदारीकरण और उसकी जीडीपी बढ़ाने की शुरूआत पीवी नरसिंह राव ने की और बाद में उसे डॉ. मनमोहन सिंह ने बढ़ाया। वे मानते हैं कि मनमोहन सिंह तो बोल ही नहीं पाते थे और मोदी जी कितना बढ़िया बोलते हैं। वे यह भी नहीं मानते कि वाजपेयी जी ने जब सरकार बनायी तो अनुच्छेद 370, राम मन्दिर और कामन सिविल कोड जैसे मुद्दों को दरकिनार कर दिया था। हाँ वे यह जरूर स्वीकार करते हैं कि बीस साल के शासन के बाद मध्यप्रदेश शासन में एक थकान आ गयी है इसके लिए सरकार बदलने की जरूरत है। लेकिन वे मानते हैं कि भारत एक हिन्दू राष्ट्र है और आखिर कमलनाथ भी तो हनुमान भक्त हैं।

दिल्ली के एक मीडिया समूह के वरिष्ठ पत्रकार ने जब इन्दौर में देवी अहिल्या बाई विश्वविद्यालय के छात्रों से बात की तो कुछ चौंकाने वाली प्रतिक्रियाएँ आयीं। कुछ युवकों ने ऊँचे स्वर में कहा कि गाँधी ने देश को बाँटा और उनकी हत्या करने वाला गोडसे वास्तव में देश का नायक है। हालाँकि उम्मीद की बात यह रही कि उनके पास खड़े बहुसंख्यक युवाओं ने उनसे असहमति जतायी और कहा कि गाँधी बड़े राजनेता और सन्त थे और उन्होंने देश की आजादी में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

इस चुनाव की विशेषता यह है कि भारतीय जनता पार्टी इसे राष्ट्रीय चुनाव मानकर लड़ रही है जबकि काँग्रेस और दूसरे विपक्षी दल इसे स्थानीय चुनाव मानकर लड़ रहे हैं। भाजपा ने अगर राजस्थान से लेकर छत्तीसगढ़ तक किसी स्थानीय नेता को मुख्यमन्त्री के उम्मीदवार के रूप में पेश नहीं किया है और मोदी के नेतृत्व में ही सारे पाँसे रख दिये हैं तो काँग्रेस, बीआरएस और एमएनयेफ मुख्यमन्त्री के उम्मीदवार

को ज्यादातर जगहों पर तय मान कर चुनाव लड़ रही है। लेकिन काँग्रेस ने इस चुनाव में इण्डिया गठबन्धन को मुल्तवी कर रखा है। मध्य प्रदेश, राजस्थान, छत्तीसगढ़ और तेलंगाना सभी स्थानों पर इण्डिया गठबन्धन के घटक अलग चुनाव लड़ रहे हैं और उनके नेता काँग्रेस पर हमला करते हुए प्रचार कर रहे हैं। कमलनाथ से धोखा खाने के बाद अखिलेश यादव तो काँग्रेस पर खासे हमलावर हैं और उनके भाषणों को सुनकर तो लगता है कि इण्डिया गठबन्धन जो घुटनों के बल चल रहा था और जिसने घोसी चुनाव में खड़े होने की कोशिश की उसने विधानसभा चुनाव में अपना घुटना तुड़वा दिया।

काँग्रेस के जिम्मेदार नेता कह रहे हैं कि विधानसभा चुनावों के बाद गठबन्धन सक्रिय होगा तो शरद पवार कह रहे हैं कि इण्डिया गठबन्धन लोकसभा के लिए है विधानसभा के लिए नहीं। लेकिन इस ऊहापोह के बीच राहुल गाँधी जाति जनगणना जैसे राष्ट्रीय मुद्दे तो उठा रहे हैं और भाजपा से आगे बढ़कर गारण्टी योजनाओं की घोषणा भी कर रहे हैं। लेकिन या तो काँग्रेस उस आख्यान से रणनीतिक तौर पर पीछे हट रही है जो उसने भारत जोड़ो यात्रा में उठाया था और जिसका असर कर्नाटक और हिमाचल के चुनावों में दिखा या फिर उसने उन्हें 2024 के लिए बचा कर रखा है। लेकिन इन चुनावों में काँग्रेस की ओर से संविधान बचाने का राष्ट्रीय आह्वान का वैसा स्वर नहीं सुनाई पड़ रहा है जैसी कि उससे उम्मीद थी।

चुनावों के दौरान एक ओर भाजपा छत्तीसगढ़ के मुख्यमन्त्री भूपेश बघेल पर भ्रष्टाचार का आरोप लगा रही है तो दूसरी ओर उसके अपने केन्द्रीय मन्त्री नरेन्द्र तोमर के बेटे का वीडियो वायरल हो रहा है। उसमें 500 करोड़ रुपए लेनदेन की बात है। यह वीडियो उस समय का है जब नरेन्द्र तोमर खनन मन्त्री थे। लेकिन विडम्बना देखिए कि ईडी और सीबीआई के छापे वहाँ पड़ रहे हैं जहाँ पर विपक्षी दलों और विशेषकर काँग्रेस की सरकारें हैं यानी राजस्थान और छत्तीसगढ़। भ्रष्टाचार और परिवारवाद के आरोप जब भाजपा पर लगते हैं तो सरकारी जाँच एजेंसियाँ और प्रधानमन्त्री खामोश हो जाते हैं। इस अन्यायपूर्ण खामोशी को राष्ट्रवाद के आक्रामक आख्यान और राममन्दिर के जनवरी में होने वाले उद्घाटन से ढक दिया जाता है। विडम्बना देखिए कि इस चुनाव में इजराइल और हमास को मुद्दा बनाया जा रहा है और उस पर सबसे ज्यादा भाषण उत्तर प्रदेश के मुख्यमन्त्री योगी आदित्यनाथ दे रहे हैं।

पहले भारतीय मीडिया संसाधनों की कमी के कारण मध्यपूर्व देशों की खबरों के लिए पश्चिमी मीडिया पर निर्भर होता था। लेकिन आज अपनी बढ़ी ताकत के बावजूद वह इन पर कई गुना निर्भर हो गया है। लेकिन पहले गुटनिरपेक्ष संगठन के नाते भारतीय राजनीति फिलस्तीनियों के इतने विरुद्ध नहीं थी और इजराइल की साजिशों में इतनी शामिल नहीं हुई थी। आज हमारी राजनीति इस स्तर तक पहुँच गयी है कि दावा कर रही है कि अगर आप के कानों में अजान की आवाज पहुँच रही है तो आप हमास के रेंज में हैं। हमास की आतंकवादी गतिविधि की पुरजोर निन्दा और विरोध करते हुए भी अस्पतालों पर बमबारी और निहत्थे बच्चों और औरतों की हत्याओं को भला कैसे सही ठहराया जा सकता है। क्या यह आतंकी कार्रवाई नहीं है? लेकिन विडम्बना यह है कि रामायण और महाभारत का पारायण करने वाला यह देश और उसके नेता न्याय और अन्याय का फर्क भूल गये हैं और यह भी भूल गये हैं कि प्राचीन युग में भी युद्ध की नैतिकता के कुछ नियम होते थे जिनमें रात को युद्ध नहीं होता था और न ही निहत्थे लोगों और औरतों बच्चों पर वार किया जाता था।

बिखरती संवैधानिक नैतिकता लोकतन्त्र की उखड़ती साँसों के बीच दो मुद्दे राष्ट्रीय स्तर पर चर्चा में उठे हैं और कुछ कहा नहीं जा सकता कि उनका इन चुनावों पर कितना असर पड़ेगा। एक है जातीय जनगणना और उसके आधार पर आरक्षण पर लगी 50 प्रतिशत की सीमा को हटाने की बात। दूसरा मुद्दा है इलेक्टोरल बांड का जिस पर सुप्रीमकोर्ट सुनवाई कर रहा है। हालाँकि उसने कोई भी रोक लगाने से मना कर दिया है।

बिहार देश का पहला राज्य है जिसने जाति जनगणना पूरी की और पचहत्तर प्रतिशत आरक्षण लागू करने का विधेयक पास कर दिया। बिहार की इस कार्रवाई का असर निश्चित तौर पर पूरे देश पर पड़ेगा। देर सबेर सभी राज्य इस ढर्रे पर कदम बढ़ाएँगे। क्योंकि आरक्षण की राजनीति ने हाल में महाराष्ट्र को गरमा रखा था और आश्चर्य नहीं कि आगे देश के अन्य राज्य इस ओर बढ़ेंगे। सवाल यह है कि क्या इस राजनीति का असर इन चुनावों पर पड़ेगा? क्या जाति की राजनीति, साम्प्रदायिक राजनीति या राष्ट्रवाद की भावुक अपील को काट पाएगी? इसका परीक्षण अभी नहीं तो 2024 में तो होगा ही।

दूसरा मुद्दा भ्रष्टाचार का है। क्या इस देश की जनता भ्रष्टाचार के मुद्दे पर मौलिक बहस करने और उसका कोई रेडिकल समाधान करने के लिए तैयार है? अगर है तो उसे चुनावी बांड पर सोचना होगा। चुनावी बांड में मिलने वाले चन्दे की गोपनीयता और उस पर आयकर की छूट दोनों परस्पर विरोधी बातें हैं। ये लोकतन्त्र की पारदर्शी भावना के विरुद्ध हैं और लगता है कि आयकर विभाग काले धन पर कर की छूट दे रहा है। इस स्थिति के रहते हुए हमारा लोकतन्त्र कभी भ्रष्टाचार से मुक्त नहीं हो सकता भले ही हमारे मोदी जी हर विपक्षी नेता के घर पर ईडी और सीबीआई दौड़ाते रहें। क्या हमारा मतदाता और हम भारत के लोग इस बीमार होते लोकतन्त्र को चंगा करने के लिए कोई निदान और इलाज सोच रहे हैं या वे उसकी बीमारी को ही स्वास्थ्य मान कर चल रहे हैं? लोकतन्त्र में सिर्फ राजनीतिक दल ही भागीदार नहीं होते। उसमें लोकतन्त्र की संस्थाएँ और जनता भी बराबर की भागीदार होती है। लोकतन्त्र में जो गड़बड़ी होती है उसकी जितनी जिम्मेदारी संस्थाओं पर होती है उतनी ही जनता पर होती है। क्या जनता इस जिम्मेदारी को समझेगी और 2024 के लिए कोई उम्मीद पैदा करेगी?

■

काँग्रेस का नैरेटिव बनाम भाजपा का मैनेजमेन्ट

राजेन्द्र तिवारी

ये विधानसभा सीटें 93 लोकसभा सीटों में फैली हुई हैं जो कुल 543 लोकसभा सीटों का तकरीबन 17 फीसद हैं। इन राज्यों में कुल 16 करोड़ मतदाता अपने मताधिकार का प्रयोग कर सकेंगे जो देश के कुल मतदाताओं का लगभग 18 फीसद हैं। इन पाँच राज्यों में से एक दक्षिण, एक पूर्वोत्तर से, एक पश्चिम से है और दो मध्य में स्थित हैं। मोटे तौर पर यह भूगोल पूरे देश की राजनीतिक तस्वीर बताने वाला माना जा सकता है।

लेखक वरिष्ठ पत्रकार हैं और देश के प्रतिष्ठित अखबारों के संपादक रह चुके हैं।

+919771476719

rajendratiwari@me.com

पूरे देश की निगाहें 3 दिसम्बर पर लगी हैं। इस तारीख को पाँच राज्यों–राजस्थान, मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़, तेलंगाना और मिजोरम विधानसभा चुनावों के नतीजे आएँगे। ये नतीजे 2024 में होने वाले आम चुनावों की दिशा तय करने वाले होंगे। राजस्थान, छत्तीसगढ़ व मध्य प्रदेश में भाजपा और काँग्रेस आमने सामने हैं तो तेलंगाना में काँग्रेस का मुकाबला के चन्द्रशेखर राव की पार्टी बीआरएस (भारत राष्ट्र समिति) व मिजोरम में मिजो नेशनल फ्रंट व भाजपा से है। काँग्रेस इस चुनावों में विचारधारा के साथ-साथ बेरोजगारी, महँगाई, भ्रष्टाचार, गरीब-अमीर के बीच बढ़ती खाई और स्थानीय समस्याओं पर माहौलबन्दी कर रही है। साथ ही, अपनी राज्य सरकारों की जनोन्मुखी योजनाओं को भी प्रस्तुत कर रही है। दूसरी ओर, भाजपा मोदी के चेहरे और अपनी चुनाव प्रबन्धन क्षमता के बूते मैदान में है। अलबत्ता, उसके साथ हिन्दुत्व का मुद्दा तो है ही। एक और बड़ा मुद्दा काँग्रेस उठा रही है और भाजपा इस मुद्दे की कोई मजबूत काट पेश करने में विफल दिखाई दे रही है। यह मुद्दा है जाति गणना का यानी पिछड़े वर्गों की हिस्सेदारी का। पाँचों राज्यों में दिलचस्प राजनीतिक माहौल दिखाई दे रहा है। नतीजों का ऊँट किस करवट बैठेगा, यह तो 3 दिसम्बर को पता चलेगा। आइए, मौजूदा माहौल को समझने की कोशिश करते हैं।

इसलिए महत्त्वपूर्ण हैं ये पाँच राज्य–

1. 7 नवम्बर से 25 नवम्बर तक पाँच राज्यों की 679 विधानसभा सीटों के लिए मतदान होगा। ये विधानसभा सीटें 93 लोकसभा सीटों में फैली हुई हैं जो कुल 543 लोकसभा सीटों का तकरीबन 17 फीसद हैं। इन राज्यों में कुल 16 करोड़ मतदाता अपने मताधिकार का प्रयोग कर सकेंगे जो देश के कुल मतदाताओं का लगभग 18 फीसद हैं।

2. इन पाँच राज्यों में से एक दक्षिण, एक पूर्वोत्तर से, एक पश्चिम से है और दो मध्य में स्थित हैं। मोटे तौर पर यह भूगोल पूरे देश की राजनीतिक तस्वीर बताने वाला माना जा सकता है।

3. 2018 के विधानसभा चुनाव में राजस्थान, मध्य प्रदेश और छत्तीसगढ़ में काँग्रेस ने सरकार बनायी थी। तेलंगाना में बीआरएस को भारी बहुमत मिला था और मिजोरम में एनडीए के सहयोगी दल मिजो नेशनल फ्रंट ने सरकार बनायी थी।

4. राजस्थान में काँग्रेस ने 39.30 फीसद वोटों के साथ100 सीटें और भाजपा ने 38.08 फीसद वोटों के साथ 73 सीटें जीती थीं। मध्य प्रदेश में काँग्रेस ने 40.89 फीसद वोट हासिल कर 114 सीटें जीती थीं और भाजपा को 41.02 फीसद वोटों के साथ 109 सीटें मिली थीं। छत्तीसगढ़ में काँग्रेस ने 90 में से 68 सीटें हासिल की थीं और इसका वोट

प्रतिशत 43 रहा था जबकि भाजपा को 33 फीसद वोटों के साथ मात्र 15 सीटें मिली थीं। तेलंगाना में बीआरएस को 46.97 फीसद वोट मिले और119 में से 88 सीटें जबकि काँग्रेस को 28.43 फीसद वोट के साथ 19 सीटें और भाजपा को 6.98 फीसद वोट व एक सीट मिली थी। सात सीटें असदउद्दीन ओवैसी की पार्टी ने जीतीं थी, जो बीआरएस के साथ थी। मिजोरम में एनडीए घटक मिजोनेशनल फ्रंट (37.70 फीसद वोट) ने 40 में 26 सीटें और जेडपीएम (जोरम पीपुल्स मूवमेंट, 22.9 फीसद वोट) ने 8 सीटें हासिल कीं जबकि काँग्रेस 30 फीसद वोट) को सिर्फ 5 सीटें मिलीं।

5. मध्य प्रदेश में काँग्रेस नेता ज्योतिरादित्य सिन्धिया को भाजपा ने तोड़ लिया और उनके साथ 22 विधायक टूटे। इससे काँग्रेस की सरकार गिर गयी और वहाँ पूर्व मुख्यमन्त्री शिवराज सिंह चौहान के नेतृत्व में फिर से भाजपा की सरकार बनी। सिन्धिया को राज्यसभा की सदस्यता मिली और केन्द्रीय कैबिनेट में बर्थ। सरकार गिराने की कोशिश राजस्थान में भी हुई लेकिन इसमें सफलता नहीं मिली और अशोक गहलौत अपनी सरकार बचाने में कामयाब रहे। इसके बाद भाजपा ने कर्नाटक और महाराष्ट्र में भी तोड़-फोड़ के जरिए विपक्षी सरकार को गिराकर अपनी सरकार बनायी।

6. मध्य प्रदेश, राजस्थान व छत्तीसगढ़ में कुल 65 लोकसभा सीटें आती हैं। इनमें से 62 सीटें 2019 के आम चुनाव में भाजपा ने जीती थीं और सिर्फ तीन सीटें काँग्रेस जीत पायी थी। तेलंगाना में 17 लोस सीटें हैं जिनमें से चार भाजपा, तीन काँग्रेस, एक एआईएमआईएम और बाकी नौ सीटें बीआरएस ने जीती थीं। मणिपुर की एक मात्र सीट एमएनयेफ ने जीती थी।

भाजपा : भोपाल से मोदी ने फूँका बिगुल

प्रधानमन्त्री नरेन्द्र मोदी ने अमेरिका से लौटने के बाद 27 जून को इन विधानसभा चुनावों के लिए भोपाल से भाजपा की ओर बिगुल फूँक दिया था। उन्होंने काँग्रेस द्वारा कर्नाटक को दी गयी गारंटियों का मजाक बनाया। उन्होंने कहा–आज मैं भी गारण्टी देना चाहता हूँ। अगर उनकी घोटाले की गारण्टी है तो मोदी की भी एक गारण्टी है हर घोटालेबाज पर कार्रवाई की गारण्टी। लेकिन इस गारण्टी की हवा बन भी न पायी थी कि जिस एनसीपी और उसके नेताओं पर प्रधानमन्त्री ने 70 हजार करोड़ के घोटाले का आरोप लगाया, उनको एक सप्ताह के भीतर महाराष्ट्र में न सिर्फ अपनी पार्टी की सरकार में शामिल कर लिया बल्कि अजित पवार को वित्त मन्त्रालय की जिम्मेदारी के साथ उप मुख्यमन्त्री बना दिया। दरअसल प्रधानमन्त्री ने विपक्षी गठबन्धन इण्डिया के दलों को परिवारवाद और भ्रष्टाचार का पर्याय बताया लेकिन महाराष्ट्र के घटनाक्रम ने परिवारवाद और भ्रष्टाचार के खिलाफ मोदी की गारण्टी की हवा निकाल दी। हालाँकि इससे पहले 28 मई को प्रधानमन्त्री नरेन्द्र मोदी ने संसद के नये भवन के उद्घाटन समारोह के जरिए हिन्दू आधिपत्य का सन्देश देने की कोशिश की थी लेकिन राष्ट्रपति द्रौपदी मुरमू को इस मौके पर न बुलाए जाने और विपक्षी गठबन्धन इण्डिया के बहिष्कार से यह पूरी कवायद विवादों में घिर गयी। संसद का मानसून सत्र मणिपुर की हिंसा की भेंट चढ़ गया। मणिपुर की हिंसा को लेकर सरकार घेरे में ही रही। अविश्वास प्रस्ताव पर बहस में विपक्ष सत्ता पक्ष पर भारी पड़ता दिखाई दिया। दरअसल, भाजपा का कोई भी दाँव कोई खास असरदार नहीं रहा। जी-20 शिखर सम्मेलन एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि के तौर पर जरूर दर्ज किया गया लेकिन बड़े स्तर की ब्रांडिंग के बावजूद, दूसरे तमाम मुद्दों के चलते उसका भी कोई खास फायदा भाजपा को मिलता दिखाई नहीं दे रहा है। इसके बाद चाहें सनातन का मुद्दा हो या भारत बनाम इण्डिया, कुछ भी नहीं चला। संसद का विशेष सत्र फुस्स हो गया और पाँच दिन की बजाय चार दिन में ही सत्र समाप्त करना पड़ा। इस सत्र में बड़े जोर-शोर से नारी शक्ति वन्दन अधिनियम लाया गया लेकिन उसमें इतने किन्तु-परन्तु हैं कि उनका फायदा उठाकर विपक्ष ने महिला आरक्षण के साथ-साथ ओबीसी आरक्षण को मुद्दा बना दिया और फिर बिहार में जाति गणना के आँकड़ों की घोषणा ने सोने पर सुहागा का काम किया।

रोचक लड़ाई है राजस्थान में

राजस्थान में विधानसभा की 200 सीटों के लिए 25 नवम्बर को मतदान है। इस राज्य में पिछले 30 साल से हर पाँच साल पर सरकार बदल देने की परिपाटी चली आ रही है। भाजपा इस परिपाटी, चुनाव प्रबन्धन के अपने अभिनव प्रयोगों और नरेन्द्र मोदी के चेहरे के जरिए जीत का दावा कर रही है। पूर्व मुख्यमन्त्री वसुन्धरा राजे राज्य में भाजपा का सबसे बड़ा चेहरा मानी जाती रही है, लेकिन इस बार भाजपा के केन्द्रीय नेतृत्व ने उनके चेहरे पर चुनाव न लड़ने का फैसला किया। इसके चलते शुरूआत में पार्टी में खींचतान रही लेकिन अन्त में भाजपा ने न सिर्फ वसुन्धरा को उनकी परम्परागत सीट से टिकट दिया बल्कि उनके करीब तीन दर्जन समर्थकों को भी अपनी सूची में जगह दे दी। लेकिन अभी भी यह भ्रम बना हुआ है कि वसुन्धरा पार्टी के सभी प्रत्याशियों के लिए काम करेंगी या सिर्फ अपने समर्थकों के लिए? अगर वसुन्धरा राजे अपने को सीमित रखती है तो इसका असर पार्टी की सम्भावनाओं पर सकारात्मक तो नहीं ही रहेगा। भाजपा ने 7 सांसदों को भी मैदान में उतारा है। यह प्रयोग इस विधानसभा चुनाव के अलावा 2024 के आम चुनाव के मद्देनजर जनता की थाह लेने की भाजपा की कोशिश के तौर पर देखा जा सकता है। इसके चलते शुरूआती असन्तोष दिखाई दे रहा है लेकिन अभी चुनाव की तिथि दूर है। इस गुणा-गणित के अलावा भाजपा हिन्दुत्व का मुद्दा गरम करने की कोशिश में है। संसद में बसपा सांसद को अश्लील-अपशब्दों से नवाजने वाले अपने सांसद रमेश बिधूड़ी को टोंक जिले का प्रभारी बनाकर पार्टी ने अपनी रणनीति का स्पष्ट संकेत बहुत पहले ही दे दिया था। उसके बाद प्रधानमन्त्री नरेन्द्र मोदी और गृहमन्त्री अमित शाह ने उदयपुर में कन्हैयालाल का सिर काटकर की गयी हत्या का मामला गरमाने का प्रयास किया। हालाँकि इस जघन्य घटना के बाद राज्य की गहलोत सरकार द्वारा तेजी से की गयी कार्रवाई की वजह से यह मामला तूल नहीं पकड़ पा रहा है। प्रधानमन्त्री नरेन्द्र मोदी राजस्थान को लेकर कितना सशंकित हैं, इसका अन्दाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि पिछले 12 माह

में उनके 12 दौरे राज्य में हो चुके हैं। काँग्रेस मुख्यमन्त्री अशोक गहलोत के चेहरे को आगे करके चुनाव लड़ रही है और भाजपा मोदी जी के चेहरे के साथ। काँग्रेस सरकार की सामाजिक सुरक्षा स्कीमों और 500 रुपये के सिलिंडर जैसी स्कीमों से एंटी इनकंबेंसी को थामने में मदद मिलने का दावा किया जा रहा है। काँग्रेस ने गुटबाजी को थामने की हरसम्भव कोशिश की और अपना एकजुट चेहरा रखने में कामयाब होती दिखाई दे रही है। सचिन पायलट और मुख्यमन्त्री अशोक गहलोत ने प्रियंका गाँधी के साथ एक ही कार में यात्रा कर इस सन्देश को पुख्ता करने की कोशिश भी की। लेकिन दोनों जानबूझकर कुछ ऐसा जरूर बोल देते हैं जिससे एका पर सवालिया निशान लग जाते हैं। कुल मिलाकर राजस्थान का सियासी परिदृश्य दिलचस्प बना हुआ है।

मध्य प्रदेश-छत्तीसगढ़ में भाजपा मुश्किल में

मध्य प्रदेश में भाजपा की सरकार है और छत्तीसगढ़ में काँग्रेस की। मध्य प्रदेश में काँग्रेस में तोड़फोड़ के जरिए भाजपा सरकार बनने के बाद से ही पार्टी में अन्दरूनी गुटबाजी रही है। चुनाव की तिथियाँ घोषित होने के काफी पहले से ही कहा जा रहा है कि राज्य में भाजपा कई गुटों में बँटी हुई है। जैसे शिवराज भाजपा, महाराज (सिन्धिया) भाजपा और नाराज भाजपा आदि। सिन्धिया को लेकर पार्टी के पुराने नेताओं-कार्यकर्ताओं में असन्तोष सतह पर दिखाई देता रहा है। इस गुटबाजी के चलते विधायक-पूर्व विधायकों समेत भाजपा के दर्जनों राज्य-जिला स्तर के बड़े नेता काँग्रेस में शामिल हो गये। इनमें पूर्व मुख्यमन्त्री कैलाश जोशी के पुत्र दीपक जोशी भी शामिल हैं। मुख्यमन्त्री शिवराज सिंह चौहान और उनके मन्त्रियों के खिलाफ 18-20 साल की एंटीइंकम्बेंसी है और शिवराज ने तमाम लोकलुभावन योजनाओं के जरिए इससे निपटने की भरपूर कोशिश की है–लाडली बहना से लेकर 450 रुपए के सिलिंडर तक। लेकिन उनको केन्द्रीय नेतृत्व का समर्थन नहीं मिल पा रहा है। यह बात दीगर है कि अन्त में केन्द्रीय नेतृत्व को शिवराज और उनके लोगों को (राजस्थान की तरह) समायोजित ही करना पड़ा। लेकिन इसका सन्देश राज्य में भाजपा की कमजोरी के तौर पर जनता में गया है। प्रधानमन्त्री अपनी सभाओं में शिवराज की योजनाओं या उपलब्धियों का जिक्र तक नहीं करते हैं। यही नहीं, राज्य में अलग-अलग क्षेत्रों से तीन केन्द्रीय मन्त्रियों समेत सात सांसदो और एक केन्द्रीय महासचिव को चुनाव मैदान में उतारा गया है। रणनीति वही है कि ये सांसद अपने लोस क्षेत्र में अपनी विस सीट के साथ-साथ सभी सीटें निकाल लें तो भाजपा व प्रधानमन्त्री मोदी की राह आसान हो जाएगी। यदि2024 में स्थितियाँ कठिन बनीं तो केन्द्र में उनको चुनौती दे सकने वाले क्षत्रपों में शिवराज सबसे प्रमुख हैं। इसलिए शिवराज का कमजोर होना मोदी के पक्ष में होगा। स्थिति यह है कि तीनों केन्द्रीय मन्त्री–नरेन्द्र सिंह तोमर, प्रह्लाद पटेल व फग्गन सिंह कुलस्ते और केन्द्रीय महासचिव कैलाश विजयवर्गीय, अपने-अपने इलाकों में खुद को मुख्यमन्त्री के दावेदार के रूप में पेश कर रहे हैं। भाजपा की इस अन्दरूनी उठापटक का फायदा काँग्रेस को मिल रहा है। काँग्रेस में गुटबाजी नहीं दिख रही, मुख्यमन्त्री पद के लिए कमलनाथ का चेहरा और भाजपा के केन्द्रीय नेतृत्व की गतिविधियों से पार्टी स्वतः लाभ की स्थिति में आ गयी है।

छत्तीसगढ़ में काँग्रेस की स्पष्ट बढ़त मानी जा रही है। यहाँ काँग्रेस की भूपेश बघेल सरकार ने पिछले पाँच साल में अपने कामों के जरिए न सिर्फ भाजपा को कमजोर किया बल्कि मुद्दाविहीन भी कर दिया। भाजपा दिक्कत में है। भाजपा के बड़े आदिवासी नेता नन्द कुमार साय काँग्रेस में चले गये, पूर्व मुख्यमन्त्री डॉ. रमन सिंह को केन्द्रीय नेतृत्व महत्त्व नहीं दे रहा और पार्टी के पास जनता से जुड़े मुद्दे भी नहीं हैं। भूपेश बघेल ने तो अडानी का मुद्दा भी जोर-शोर से उठाना शुरू कर दिया कि मोदी जी राज्य के बड़े कारखाने अडानी को देना चाहते हैं। धार्मिक ध्रुवीकरण की कोशिशें परवान नहीं चढ़ रहीं। ग्रामीण अर्थव्यवस्था को लेकर भूपेश बघेल के कामों का असर है।

तेलंगाना और मिजोरम की कहानी

तीन माह पहले तक माना जा रहा था कि तेलंगाना में बीआरएस की राह साफ है और भाजपा को भी लगता था कि उसे अच्छी सफलता मिल सकती है। लेकिन काँग्रेस ने पूरी तस्वीर बदल दी। आज काँग्रेस बीआरएस को चुनौती देते हुए दिखाई दे रही है और भाजपा कहीं नहीं है। काँग्रेस की सभाओं में भीड़ और भाजपा व बीआरएस से काँग्रेस में बड़े स्तर पर पलायन कुछ नयी कहानी लिखता हुआ दिखाई दे रहा है। कर्नाटक में काँग्रेस की सफलता का असर यहाँ के माहौल में भी देखा जा सकता है। शुरूआत में प्रधानमन्त्री व गृह मन्त्री तेलंगाना पर फोकस करते दिख रहे थे लेकिन अब वह फोकस दिखाई नहीं दे रहा है। दूसरी ओर काँग्रेस का शीर्ष नेतृत्व तेलंगाना को सफल मौके में तब्दील करने की हर सम्भव कोशिश करता हुआ नजर आ रहा है।

मिजोरम पूर्वोत्तर का एक छोटा लेकिन महत्त्वपूर्ण राज्य है। यहाँ मिजो नेशनल फ्रंट सत्ता में है जो एनडीए में शामिल है। काँग्रेस इस राज्य पर फोकस किए हुए है और राहुल गाँधी तीन दिन वहाँ बिता कर आये हैं। तीन-चार दिन के लिए फिर जाने वाले हैं। राहुल को जिस तरह का समर्थन दिखाई दे रहा है, उससे लग रहा है कि मणिपुर हिंसा के बाद पूर्वोत्तर में राजनीतिक समीकरण बदल रहे हैं। मिजोरम के मुख्यमन्त्री द्वारा प्रधानमन्त्री मोदी के साथ मंच शेयर करने से मना करना इस बदलाव का मजबूत संकेत दे रहा है।

कुल मिलाकर, पाँच राज्यों के विधानसभा चुनाव के नतीजे 2024 के आम चुनाव की दिशा करने वाले साबित होंगे। भले इसे 2024 का सेमी फाइनल कहा जा रहा है लेकिन काँग्रेस के लिए ये चुनाव फाइनल ही हैं। काँग्रेस अगर इनमें भाजपा पर बढ़त बना लेती है तो 2024 के लिए विपक्षी गठबन्धन में एक मजबूत एंकर के रूप में काँग्रेस स्थापित हो जाएगी। और अगर ऐसा नहीं हो पाता है तो इण्डिया के लिए राह बहुत मुश्किल होना तय है। ये चुनाव तय करने वाले हैं कि क्या हिन्दुत्व पर सामाजिक न्याय का मुद्दा भारी पड़ेगा? नब्बे के दशक में उत्तर प्रदेश में एक नारा बहुत चला था–मिले मुलायम कांशीराम, हवा हो गये जय श्रीराम। देखना होगा कि क्या तीस साल बाद भी इस नारे में दम बचा हुआ है?

■

चुनाव देश को गढ़ने का होना चाहिए

अमन नम्र

आज सत्ता और विपक्ष दोनों को ही सत्ता की राजनीति से ऊपर उठकर देश के बारे में सोचना चाहिए। आज अगर हम देश के हर गरीब को मुफ्त राशन के बजाय आत्मसम्मान से जीने लायक माहौल बना पाएँ, महिलाओं को हर महीने मुफ्त की राशि देने के बजाय उनकी मेहनत को सम्मान दे पाएँ, बच्चों को अच्छी और सच्ची शिक्षा दे पाएँ, हर व्यक्ति को स्वच्छ पानी, साफ हवा और पौष्टिक भोजन मुहैया करा पाएँ तो शायद देश के विकास में इससे ज्यादा धार्मिक और सांस्कृतिक योगदान और कोई नहीं होगा।

लेखक वरिष्ठ पत्रकार हैं।

मध्यप्रदेश, राजस्थान, छत्तीसगढ़, तेलंगाना और मिजोरम जैसे पाँच राज्यों में चुनाव प्रचार जोरों पर है। सत्ता, विपक्ष और सत्ता में आने को लालायित नाना प्रकार की पार्टियाँ अपने लोकलुभावन वादों से जनता को बहलाने में जुटी हैं। जनता को विकल्प भी इन्हीं में से चुनना है। जल्द ही नयी सरकारें चुनी जाएँगी जो अगले पाँच सालों तक इनके विकास की बागडोर थामेंगी। इसके तीन-चार महीने बाद लोकसभा चुनाव होंगे और देश की सरकार बनेगी जो भविष्य की दशा और दिशा तय करेगी। पर सवाल यह है कि क्या यह दशा और दिशा बीते सात दशकों से जारी विकास की मौजूदा अवधारणा से अलग या बेहतर होगी? विषय थोड़ा गम्भीर है, पर मौजूं है और हमारे, आपके ही नहीं आने वाली पीढ़ियों के लिए भी बेहद महत्त्वपूर्ण है, इसलिए इस पर विचार करना जरूरी है।

पहले हाल की दो खबरों की सुर्खियाँ पढ़िए। पहली, प्रधानमन्त्री नरेन्द्र मोदी ने कहा कि अगले पाँच साल तक देश के 80 करोड़ गरीबों को मुफ्त राशन की योजना जारी रहेगी और दूसरी, दिल्ली दुनिया का सबसे प्रदूषित शहर बन गया है। अगर पहली सुर्खी की बात करें तो यह तथ्य हमें चुल्लू भर पानी में डूबने पर मजबूर कर देगा कि 76 साल पहले जब देश को आजादी मिली थी, उस समय की आबादी (34 करोड़) की तुलना में आज मुफ्त राशन पाने वाले गरीबों की संख्या दोगुना से ज्यादा है। यह तमाम 'पंचवर्षीय,' '7 वर्षीय,' 'योजना आयोग,' 'नीति आयोग' या काँग्रेस, भाजपा, जनता पार्टी या यूपीए, एनडीए शासित सरकारों के विकास का नतीजा है।

इसी विकास का एक नतीजा दूसरी सुर्खी भी है कि हमारे देश की राजधानी दुनिया के सबसे प्रदूषित शहरों में टॉप पर है। क्या ऐसा नहीं लग रहा कि हम विकास के नाम पर 76 साल पहले जिस गलत दिशा में मुड़ गये थे, उसी दिशा में अब इतने आगे पहुँच चुके हैं कि विनाश को ही अब हमने विकास समझ लिया है।

इस बात को हम तीन तरह से देख, समझ सकते हैं। आजादी से पहले और आजादी की लड़ाई के दौरान भविष्य के किस भारत की कल्पना की गयी थी, मजबूरी में हमने किस तरह का भारत बनाना शुरू किया और जो भारत आज बना उसका भविष्य क्या है। यह कम-से-कम उस भारत की दिशा में जा रहा देश तो कतई नहीं है जिसकी कल्पना और सोच महात्मा गाँधी ने की थी। 'हिन्द स्वराज' का सपना देखने वाले गाँधी कहते थे कि हमारी पहली प्राथमिकता विदेशी राज्य को हटाना है और 'हिन्द स्वराज' के लिए अभी जनता तैयार नहीं हो पायी है इसलिए सारी ताकत 'संसदीय स्वराज' दिलाने में लगा देनी

है। हमारे हुक्मरानों ने 'संसदीय स्वराज' वाले गाँधी को तो याद रखा, पर यह भूल गये कि यह केवल तात्कालिक व्यवस्था थी। गाँधी का असली सपना 'संसदीय स्वराज' नहीं, 'हिन्द स्वराज' का था। आज हम गाँवों को खत्म कर शहरों के दायरे बढ़ाते जा रहे हैं, पर गाँधी इसके पूरी तरह खिलाफ थे। शहरों के बढ़ते प्रभुत्व के खिलाफ आवाज उठाने वाले गाँधी ने गाँवों के संरक्षण की बात कही थी।

यहाँ यह सवाल पूछा जा सकता है कि अब गाँधी कितने प्रासंगिक हैं? जवाब है कि अगर गाँधी और उनके विचार प्रासंगिक नहीं हैं तो सरकार आधिकारिक तौर पर उन्हें हटा क्यों नहीं देती। दरअसल गाँधी कभी किसी व्यक्ति का नाम नहीं रहा। वह तो आजादी के लिए देश के कोने-कोने में घूमकर लोगों को जागृत करने वाली ऐसी विचारधारा थी जो उस वक्त मिट्टी में ही घुल-मिल गयी थी और आज भी देश की मिट्टी, हवा, पानी और इसकी आत्मा का अहम हिस्सा है। कम-से-कम आज सात दशक बाद हम थोड़ा सा ठहर कर यह विचार तो कर ही सकते हैं कि अगर देश बनाने का गाँधी का ग्रामीण अर्थव्यवस्था का विचार सही नहीं था तो क्या बड़े बाँध और बड़े उद्योगों को 'आधुनिक भारत के मन्दिर' कहने वाले नेहरू का मॉडल सही था?

इसे जानने का सबसे आसान तरीका यह है कि हम देखें कि आजादी के समय किस तरह के भारत को बनाने के विकल्प पर विचार किया गया था। गाँधी की सोच थी कि भविष्य के समाज का धारण और पोषण यानी समाज का विकास धर्म, बन्धुत्व और परिवार भावना से होना चाहिए, नहीं तो देश चलाने के लिए 'शैतानी ताकतों' का सहारा लेना पड़ेगा। उसमें जबरदस्ती होगी, आतंक होगा और उसके समर्थन के लिए आपको राज्य, लोकतन्त्र, चुनाव, समाजवाद जैसी कोई-न-कोई प्रतिमा खड़ी करनी होगी।

गाँधी ने करीब सौ साल पहले ही आज की हालत की कल्पना कर ली थी। तब उन्होंने समाज गढ़ने के दो विकल्प सुझाए थे, एक–सभ्य समाज, जो स्वतन्त्र व्यक्तियों का बना हुआ हो और जिसके धारण, पोषण के लिए कानून, व्यवस्था, राजतन्त्र का ढाँचा, संविधान आदि हो जिसका दिन-प्रतिदिन विस्तार होता जाए। दूसरा–पारिवारिक समाज, जिसका धारण पोषण पारिवारिक भावना से हो। उसमें संविधान आदि औपचारिक ढाँचे की जरूरत दिन-प्रतिदिन कम होती जाए।

आजादी की लड़ाई और आजादी के बाद के शुरूआती वर्षों के दौरान जवाहरलाल नेहरू और महात्मा गाँधी के पास भारत के विकास और आर्थिक मॉडल के बारे में अलग-अलग दृष्टिकोण थे। ये मतभेद उनके विशिष्ट वैचारिक और दार्शनिक दृष्टिकोण में निहित थे। नेहरू ने पारिवारिक समाज के बजाय गाँधी के पहले मॉडल को चुना, जिसके लिए कानून, राज्य, चुनाव जैसी व्यवस्था और तन्त्र खड़ा किया गया। पंडित नेहरू विकास के लिए अधिक औद्योगिकीकृत और आधुनिक दृष्टिकोण में विश्वास करते थे। उन्होंने आर्थिक विकास को आगे बढ़ाने के लिए भारी औद्योगीकरण, वैज्ञानिक अनुसन्धान और तकनीकी प्रगति पर जोर दिया। उनका दृष्टिकोण भारत का तेजी से औद्योगीकरण करने और एक मजबूत, केन्द्रीकृत और आधुनिक राष्ट्र बनाने की इच्छा से प्रभावित था।

दूसरी ओर, गाँधी ने विकास के लिए विकेन्द्रीकृत, ग्रामीण-केन्द्रित दृष्टिकोण की वकालत की थी। गाँधीजी का दृष्टिकोण स्वराज या जमीनी स्तर पर स्व-शासन के विचार में निहित था, जहाँ गाँव आत्मनिर्भर और स्वशासित होंगे। नेहरू का विकास मॉडल पूँजी-प्रधान था, जिसमें बड़े पैमाने पर औद्योगिक परियोजनाओं, भारी मशीनरी और बुनियादी ढाँचे में निवेश पर जोर दिया गया था। वहीं, गाँधीजी का मॉडल श्रम प्रधान था, जिसमें छोटे पैमाने पर उत्पादन और कृषि गतिविधियों में मानव श्रम के उपयोग पर जोर दिया गया था। वह गरीबी को कम करने और आत्मनिर्भरता को बढ़ावा देने के लिए, विशेषकर ग्रामीण क्षेत्रों में जनता को रोजगार के अवसर प्रदान करने में विश्वास करते थे।

आज सात दशक बाद हम इस पर पुनर्विचार तो कर ही सकते हैं कि आखिर नेहरू के आर्थिक विकास का मॉडल कितना सफल रहा। अगर आर्थिक और ढाँचागत विकास के तौर पर देखें तो निश्चित ही देश ने अभूतपूर्व प्रगति हासिल की है। देश की जीडीपी 3 लाख करोड़ से बढ़कर 275 लाख करोड़ के पार पहुँच चुकी है। 1950-51 में आम आदमी की औसत कमाई 274 रुपए सालाना थी, यह अब बढ़कर करीब डेढ़ लाख रुपए सालाना पर पहुँच चुकी है। शिक्षा, तकनीक, स्वास्थ्य आदि के क्षेत्रों में हमने काफी तरक्की की है। हम चाँद पर पहुँच चुके हैं, खुद को विश्वगुरु बताते हैं और अब विकास के कुछ नये प्रतिमान गढ़ने के लिए भी तैयारी जारी है।

यहाँ कुछ देर ठहरकर अगर हम दो-चार बुनियादी सवालों के जवाब खोजें तो शायद आगे के सफर की दिशा तय करने में आसानी होगी। यह पूछें कि क्या आज देश में गरीबी खत्म हो चुकी है। अगर औद्योगिकीकरण और शहरीकरण का नेहरू का आइडिया सही था तो सात दशक में हर व्यक्ति को सम्पन्न नहीं, तो कम-से-कम गरीबी की जिल्लत से तो बाहर आ ही जाना था। प्रधानमन्त्री का यह कहना कि अगले पाँच साल तक 80 करोड़ गरीबों को मुफ्त का राशन दिया जाएगा, हमारी विकास की मौजूदा अवधारणा को धराशायी कर देता है।

आज सत्ता और विपक्ष दोनों को ही सत्ता की राजनीति से ऊपर उठकर देश के बारे में सोचना चाहिए। अगर गाँधी नहीं चाहिए तो कोई बात नहीं, लेकिन यह भी देखना होगा कि उससे बेहतर हम क्या कर सकते हैं। आज अगर हम देश के हर गरीब को मुफ्त राशन के बजाय आत्मसम्मान से जीने लायक माहौल बना पाएँ, महिलाओं को हर महीने मुफ्त की राशि देने के बजाय उनकी मेहनत को सम्मान दे पाएँ, बच्चों को अच्छी और सच्ची शिक्षा दे पाएँ, हर व्यक्ति को स्वच्छ पानी, साफ हवा और पौष्टिक भोजन मुहैया करा पाएँ तो शायद देश के विकास में इससे ज्यादा धार्मिक और सांस्कृतिक योगदान और कोई नहीं होगा। इतिहास ने हमें एक और मौका दिया है कि हम भूतकाल में की गयी अपनी गलतियों से सीखें, वर्तमान को सुधारें और भविष्य को गढ़ने में जुट जाएँ। (सप्रेस)

■

क्या फिर से 'फीनिक्स' बनकर उभरेंगें शिवराज

आवरण कथा

जावेद अनीस

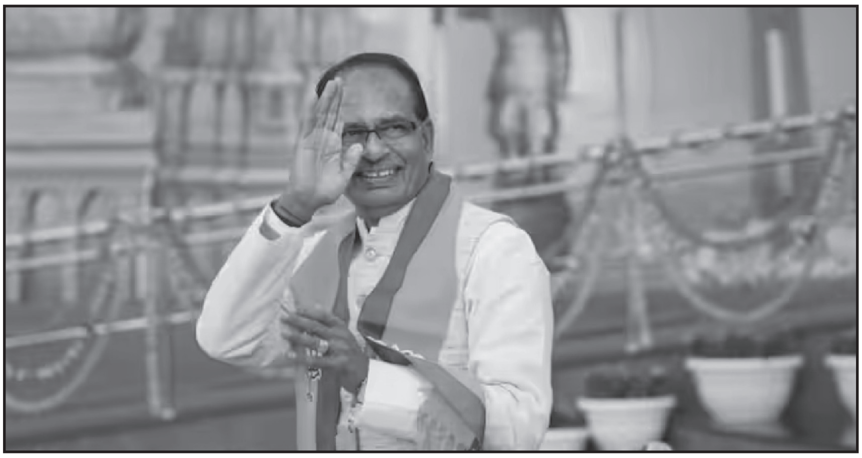

शिवराज सिंह चौहान भाजपा के उन चुनिन्दा मुख्यमन्त्रियों में शामिल हैं जो पार्टी में मोदी-शाह के वर्चस्व के इस दौर में भी अपनी अलग पहचान और जमीन को बचाए रखने में कामयाब रहे हैं। पिछले करीब दो दशकों के दौरान प्रदेश भाजपा संगठन में उनके समकक्ष कोई दूसरा नेता खड़ा नहीं हो सका है। हालाँकि उन्हें केवल बाहर से ही नहीं बल्कि भाजपा के अन्दर से भी घेरने की कोशिश की गयी है फिर भी वे हर चुनौती से पार पाने में कामयाब रहे हैं।

मध्यप्रदेश को भाजपा के सबसे मजबूत किलों में से एक माना जाता है, यहाँ जनसंघ के जमाने से ही उसका अच्छा-खासा प्रभाव है। यहाँ उसके शिवराजसिंह चौहान जैसे मजबूत क्षत्रप पिछले 18 सालों से प्रदेश की सत्ता में शीर्ष पर बने हुए हैं। दूसरी तरफ काँग्रेस है जो लगातार हार की हैट्रिक बनाने के बाद 2018 में सत्ता वापसी में सफल रही थी लेकिन 2020 में ज्योतिरादित्य सिन्धिया के काँग्रेस छोड़ने के कारण राज्य में फिर से भाजपा की सरकार बन गयी थी। इस प्रकार पन्द्रह साल बाद सत्ता में लौटी काँग्रेस पन्द्रह महीने ही चल पायी वहीं भाजपा की जोड़-तोड़ के सहारे फिर से वापसी हो गयी थी।

2023 के विधानसभा चुनाव में एक बार फिर दोनों पार्टियाँ आमने-सामने हैं, लेकिन मुकाबला इतना करीबी लग रहा है कि बड़े से बड़ा चुनावी विश्लेषक ठोस भविष्यवाणी करने की स्थिति में नहीं है।

करीब 18 साल मुख्यमन्त्री रहने के बावजूद शिवराज सिंह चौहान को उनकी पार्टी ने मुख्यमन्त्री का चेहरा घोषित नहीं किया है बल्कि वह प्रधानमन्त्री नरेन्द्र मोदी के चेहरे पर चुनाव लड़ रही है, इसे सामूहिक नेतृत्व का नाम दिया जा रहा है। पार्टी कह रही है कि मुख्यमन्त्री कौन होगा यह चुनाव के बाद तय होगा। पार्टी में करीब आधा दर्जन मुख्यमन्त्री के दावेदार नजर आ रहे हैं उनमें शिवराज भी एक हैं।

बहरहाल 'एमपी के मन में मोदी, मोदी के मन में एमपी' भाजपा का केन्द्रीय चुनावी नारा है। इस नारे को अमली जामा पहनाने के लिए पार्टी ने अपनी पूरी ताकत झोंक दी है। इस विधानसभा चुनाव में भाजपा ने अपने 7 सांसदों को मैदान में उतारा है जिसमें दिमनी से नरेन्द्र सिंह तोमर, नरसिंहपुर से प्रहलाद पटेल, निवास से फग्गन सिंह कुलस्ते जैसे केन्द्रीय मन्त्री और बाकी सांसदों में रीति पाठक, राकेश सिंह, राव उदयप्रताप और गणेश सिंह शामिल हैं। इस भारी भरकम सूची में भाजपा के राष्ट्रीय महासचिव कैलाश विजयवर्गीय का नाम भी है जिन्हें इन्दौर की एक विधानसभा सीट से उतारा गया है। जाहिर है भाजपा यह चुनाव शिवराज नहीं बल्कि केन्द्रीय नेतृत्व की छाया में लड़ रही है जिसमें अगर भाजपा जीतती है तो श्रेय के साथ मुख्यमन्त्री भी मोदी के पसंद का होगा और अगर भाजपा हारती है तो इसका ठीकरा शिवराज के सर ही फूटेगा।

भाजपा के अन्दरूनी जानकार कहते हैं कि इस चुनाव के बाद शिवराज को साइड लाइन करने की पूरी तैयारी कर ली गयी है। लेकिन शिवराज अपनी पोजिशन छोड़ने को तैयार नहीं है वे इस प्रकार से खूँटा गाड़ कर बैठ गये हैं कि उन्हें हिलाना मुश्किल है। चूँकि इस बार भाजपा उनके चेहरे पर चुनाव नहीं

लेखक स्वतन्त्र पत्रकार हैं।
+919424401459
javed4media@gmail.com

लड़ रही है इसलिए उन्हें भी इस बात का अन्दाज है कि अगर जीत होती है तो भी इस बार उनका मुख्यमन्त्री बनना मुश्किल होगा लेकिन इसके बावजूद भी वे अपनी तरफ से खुद को मुख्यमन्त्री के दावेदार के तौर पर ही पेश कर रहे हैं और जनता के बीच जाकर खुद को सीएम बनाने के लिए वोट माँग रहे हैं। इस पूरे चुनाव में एक तरफ भाजपा का चुनावी अभियान, जो प्रधानमन्त्री के चेहरे और सामूहिक नेतृत्व के सहारे चलाया जा रहा है वहीं दूसरी तरफ शिवराज सिंह चौहान का अपना चुनावी अभियान है जिसमें वे खुद को चेहरा और भावी मुख्यमन्त्री बताते हुए कह रहे हैं कि ''पहले लाड़ली लक्ष्मी योजना बनायी, फिर लाड़ली बहना योजना बनायी अब मेरा यह संकल्प है कि हर बहन को 'लखपति बहना' बनाऊँगा।''

2018 में पराजय के बाद भी तमाम कोशिशों के बावजूद उन्हें मध्यप्रदेश से हटाया नहीं जा सका था। भाजपा आलाकमान द्वारा उन्हें राष्ट्रीय उपाध्यक्ष बनाकार दिल्ली बुलाने की कोशिश की गयी थी लेकिन शिवराज ''मैं केन्द्र की राजनीति में नहीं जाऊँगा। मैं मध्यप्रदेश में ही रहूँगा और यहीं मरूँगा'' कहकर खुद को प्रदेश की राजनीति में ही सक्रिय बनाये रखने की जिद बनाये हुए थे और इसमें ना केवल वे कामयाब रहे बल्कि जोड़-तोड़ के सहारे वे मुख्यमन्त्री के कुर्सी पर वापसी में भी सफल रहे थे।

भाजपा के अन्दर शिवराज सिंह की गिनती उन चुनिन्दा नेताओं में भी होती है जो अपनी छवि एक उदार नेता के तौर पर गढ़ने में कामयाब रहे हैं। उनकी शैली टकराव की नहीं बल्कि लोप्रोफाईल, समन्वयकारी और मिलनसार नेता की है। इतने लम्बे समय तक मध्यप्रदेश के मुख्यमन्त्री रहने के बाद भी शिवराज सहज, सरल और सुलभ बने रहे, यही उनकी अबतक के राजनीतिक जीवन की सबसे बड़ी पूँजी और ताकत है। उनके पक्ष में कई और बातें भी हैं जैसे उनका ओबीसी समुदाय से होना और हिन्दी हृदय प्रदेश का मास लीडर होना। अपने विरोधियों से मेल-जोल बनाए रखने व जनता के साथ घुल-मिल कर उनसे सीधा रिश्ता जोड़ लेने की उनकी काबिलियत भी उन्हें खास बनाती है। अपनी इसी ताकत के बल पर वे 2005 से 2018 तक लगातार 13 सालों तक प्रदेश के मुख्यमन्त्री रहे। दिसम्बर 2018 में हुए विधानसभा चुनाव में उन्हें हार का सामना करना पड़ा था और उनकी जगह काँग्रेस के कमलनाथ मुख्यमन्त्री बने थे लेकिन पन्द्रह महीने बाद ही शिवराज एक बार फिर वापसी करने में कामयाब रहे थे।

इसलिये इस बार के विधानसभा चुनाव में अगर भाजपा हारती भी है तो शिवराज बने रहेंगें। मध्यप्रदेश में भाजपा को धीरे-धीरे शिवराज सिंह चौहान के आभामंडल से बाहर किया जा रहा है लेकिन फिलहाल पार्टी के पास मध्यप्रदेश में शिवराज के अलावा कोई दूसरा विकल्प नहीं है। इसलिए हार हो या जीत उनकी सारी जद्दोजहद हिन्दी हृदय प्रदेश की जमीन पर अपनी पकड़ और प्रासंगिकता बनाए रखने की होगी।

अपने एक चुनावी भाषण में खुद की तुलना 'फीनिक्स पक्षी' करते हुए जब वे कहते हैं कि ''अगर मैं मर भी गया तो राख के ढेर में से फीनिक्स पक्षी की तरह दोबारा उठ खड़ा हो जाऊँगा'', तो भले ही उनके निशाने पर काँग्रेस रही हो लेकिन उनका इरादा साफ नजर आता है।

ज्योतिरादित्य सिन्धिया के काँग्रेस छोड़ने के बाद ऐसा लगता है कि कमलनाथ के सामने सारे क्षत्रप नेपथ्य में चले गये हैं। कहने को तो कमलनाथ और दिग्विजय सिंह की जोड़ी को जय और वीरू की जोड़ी बताई जा रही है लेकिन दिग्विजय सिंह की भूमिका भी परदे के पीछे ही है। काँग्रेस की तरफ से अकेले कमलनाथ ही मैदान में दिख रहे हैं। इस बार चेहरा, रणनीति सब कुछ उन्हीं का है। कुल मिलाकर मध्यप्रदेश में उन्हें 'खुला हाथ' मिला हुआ है और खुद आलाकमान भी उनके हिसाब से काम करने की कोशिश कर रहा है।

काँग्रेस की तरफ से मुख्यमन्त्री पद के वे अकेले दावेदार है जिनके मुकाबले ना तो काँग्रेस और ना ही भाजपा में कोई चेहरा है और इस बार के चुनाव में यही सबसे बड़ी ताकत भी है। पिछली बार के चुनाव की तरह इस बार भी उन्होंने वचन पत्र जारी किया है जिसमें लोक लुभावन वादों की भरमार है।

मई 2018 में मध्यप्रदेश में प्रदेश अध्यक्ष के तौर पर कमलनाथ के आने के बाद से काँग्रेस लगातार नरम हिन्दुत्व के रास्ते पर आगे बढ़ी है और इस दौरान विचारधारा के स्तर पर वह भाजपा की 'बी टीम' नजर आती है। पिछले दिनों कमलनाथ ने अपने एक इंटरव्यू में राममन्दिर का श्रेय काँग्रेस को देते हुए कहा है कि राजीव गाँधी ने मन्दिर का ताला खुलवाया था, अपनी चुनावी तैयारियों के तहत वे बागेश्वर धाम के धीरेन्द्र शास्त्री के कई कार्यक्रम भी करा चुके हैं।

चुनाव से कुछ ही महीनों पहले शिवराज सिंह चौहान की सरकार द्वारा 'लाड़ली बहना योजना' की घोषणा की गयी है और पूरे चुनावी अभियान के दौरान भाजपा का सारा जोर अपने 18 साल के शासन की उपलब्धियों को बताने के बजाय इस नयी नवेली योजना के प्रचार और उसका श्रेय लेने में रहा है। शायद भाजपा मध्यप्रदेश में अपने 18 साल के शासन की किसी एक उपलब्धि और चेहरे को पेश कर पाने की स्थिति में हैं इसलिए उसका जोर 'मोदी के चेहरे, राम मन्दिर और लाड़ली बहना योजना' पर है।

हालाँकि गृह मन्त्री अमित शाह मध्यप्रदेश को बीमारू राज्य से बेमिसाल राज्य बनाने का दावा करते हैं लेकिन इसपर ज्यादा जोर नहीं दिया गया है। मध्यप्रदेश में असल मुद्दों की कमी नहीं है जिसपर ध्यान देने की जरूरत है, जैसे कि प्रदेश में अर्थव्यवस्था की हालत बहुत पतली है लेकिन प्रधानमन्त्री नरेन्द्र मोदी द्वारा 'राजस्थान में काँग्रेस को चुना तो सर तन से जुदा के नारे लगे, अब मध्यप्रदेश को बचाना है' जैसी बातें कहकर ध्यान कहीं और ले जाने की कोशिश की गयी है।

बहरहाल मुकाबला बहुत दिलचस्प और करीबी है, आगामी तीन दिसम्बर के नतीजे ना केवल मध्यप्रदेश के मुख्यमन्त्री का नाम तय करेंगें बल्कि इससे दोनों प्रमुख पार्टियों के अन्दरूनी समीकरण भी नये सिरे से तय होने वाले हैं।

■

चुनावी रण राजस्थान का

प्रमोद मीणा

वसुन्धरा राजे के साथ भाजपा के शीर्ष नेतृत्व की अन्दरुनी खींचातानी के बीच उन्हें कमजोर करने की मंशा से उनके समर्थक दावेदारों के टिकट काटने और मजबूत स्थानीय उम्मीदवारों को दरकिनार करके सांसदों को विधायकी के चुनाव में उतारने का खामियाजा भी भाजपा को उठाना पड़ सकता है। कई जगहों पर भाजपा के घोषित उम्मीदवारों के खिलाफ स्थानीय भाजपायी ही विद्रोही बनकर निर्दलीय उम्मीदवारों के रूप में ताल ठोकते देखे जा सकते हैं।

लेखक भाषा एवं सामाजिक विज्ञान संकाय, तेजपुर विश्वविद्यालय में हिन्दी के प्रोफेसर हैं।
+917320920958
pramod.pu.raj@gmail.com

हर राज्य का चुनाव अलग होता है और आमतौर पर राजनीतिक दल विशेषतः भाजपा जैसा तेज तर्रार दल राज्य विशेष के इतिहास, भूगोल, संस्कृति, जनसांख्यिकी और राजनीतिक माहौल आदि के मद्देनजर अलग-अलग रणनीति अपनाते देखे जाते हैं किन्तु पाँच राज्यों के वर्तमान विधानसभा चुनावों में राजस्थान और मध्यप्रदेश को लेकर भाजपा की राजनीतिक रणनीतियों में अद्भुत साम्य मिलता है। दोनों ही राज्यों में भाजपा ने एक ओर जहाँ किसी को मुख्यमन्त्री पद का उम्मीदवार घोषित नहीं किया है, वहीं दूसरी ओर अपने कुछ सांसदों को भी विधायकी के चुनाव में बतौर उम्मीदवार उतारा है। लम्बे समय से राजस्थान में भाजपा का नेतृत्व करती आ रही और दो बार की भूतपूर्व मुख्यमन्त्री वसुन्धरा राजे को इस बार के चुनाव में मुख्यमन्त्री पद के चेहरे के रूप में पेश न करके भाजपा के शीर्ष नेतृत्व ने एक ओर जहाँ राज्य भाजपा की अन्दरुनी गुटबन्दी को कम करने की कोशिश की है, वहीं दूसरी ओर शीर्ष नेतृत्व के प्रति बगावती तेवर रखने के लिए राजे को सबक सिखाने का काम भी किया है। टिकट वितरण में भी राजे के नजदीकी लोगों की उपेक्षा ध्यातव्य है। इसी क्रम में मध्यप्रदेश की जैसे राजस्थान में भी अपने छह सांसदों को विधायकी के चुनाव में उतारकर जहाँ उनके सामने आम चुनाव से पहले राज्य के विधानसभा चुनाव में अपनी काबिलियत सिद्ध करने का भारी दबाव डाल दिया है, वहीं वैकल्पिक नेतृत्व तैयार करने की दिशा में भी कदम बढ़ा दिया है। वैसे राजस्थान की तरह मध्यप्रदेश में भी भाजपा द्वारा मुख्यमन्त्री पद के लिए किसी चेहरे को पेश नहीं करने के पीछे की मुख्य वजह कुछ और है। 20 सालों से मुख्यमन्त्री रहे शिवराज सिंह चौहान के प्रति मध्यप्रदेश के मतदाताओं में सत्ताविरोधी लहर का होना स्वाभाविक है और उसी के मद्देनजर वहाँ चौहान के चेहरे को सामने रखे बिना भाजपा चुनाव लड़ रही है।

वसुन्धरा राजे के साथ भाजपा के शीर्ष नेतृत्व की अन्दरुनी खींचातानी के बीच उन्हें कमजोर करने की मंशा से उनके समर्थक दावेदारों के टिकट काटने और मजबूत स्थानीय उम्मीदवारों को दरकिनार करके सांसदों को विधायकी के चुनाव में उतारने का खामियाजा भी भाजपा को उठाना पड़ सकता है। कई जगहों पर भाजपा के घोषित उम्मीदवारों के खिलाफ स्थानीय भाजपायी ही विद्रोही बनकर निर्दलीय उम्मीदवारों के रूप में ताल ठोकते देखे जा सकते हैं। राजे के नजदीकी राजपाल सिंह शेखावट का टिकट काटकर पूर्व केन्द्रीय मन्त्री और जयपुर (ग्रामीण) से सांसद राज्यवर्धनसिंह राठौड़ को झोंटवाड़ा विधानसभा से भाजपा द्वारा टिकट दिए जाने को लेकर जमकर बवाल हुआ है। इसी तरह पूर्व मुख्यमन्त्री भैरों सिंह शेखावत के दामाद और पांच बार के विधायक नरपत सिंह राजवी की जगह राजसमंद की सांसद दीया कुमारी

को विद्याधर नगर सीट से उम्मीदवार बनाना भाजपा के लिए बड़ा सिरदर्द बनता दिख रहा है। देखने वाली बात यह है कि अपने आप को अनुशासित पार्टी कहने वाली भाजपा के चाणक्य और गृहमन्त्री अमित शाह इन विद्रोहों पर कैसे और किस हद तक काबू पाते हैं।

जहाँ तक काँग्रेस की बात है तो मुख्यमन्त्री अशोक गहलोत और सचिन पायलट के बीच विगत पाँच वर्षों से जो सत्ता संघर्ष चलता आ रहा था, मल्लिकार्जुन खड़गे के अध्यक्ष बनने के बाद उस पर विराम लग चुका प्रतीत होता है। गहलोत और पायलट, दोनों को यह बात शायद समझ आ चुकी है कि उनका अहम अंततः पार्टी के साथ उन्हें भी ले डूबेगा और टिकट से वंचित कुछ काँग्रेसी नेताओं के छुटपुट विरोध के अतिरिक्त कोई बड़ा विद्रोह नजर नहीं आता। यद्यपि काँग्रेस ने भी किसी को मुख्यमन्त्री पद के चेहरे के तौर पर प्रस्तुत नहीं किया है किन्तु अशोक गहलोत अघोषित रूप से काँग्रेस के मुख्यमन्त्री उम्मीदवार साफ नजर आते हैं। उनके प्रति मतदाताओं में कोई सत्ताविरोधी लहर भी दिखाई नहीं देती किन्तु काँग्रेस द्वारा अपने मौजूदा 100 विधायकों में से 67 को पुनः मैदान में उतार देना उसके लिए भारी भी पड़ सकता है। राज्य स्तर पर गहलोत कुल मिलाकर आज एक सर्वमान्य नेता जरूर साबित होते दिख रहे हैं लेकिन उनके कुछ मौजूदा मन्त्रियों और विधायकों के प्रति निश्चय ही आम जनता में नाराजगी है।

राजस्थान में काँग्रेस का पूरा चुनाव प्रचार पिछले चुनाव के दौरान किये गये लोककल्याणकारी वायदों के सफल क्रियान्वयन और इस चुनाव में किये गये इसी प्रकार नये वायदों पर केन्द्रित है। एक ओर किसानों की कर्ज माफी, राज्य कर्मचारियों के लिए पुरानी पेंशन की बहाली, 8 रुपये प्रति थाली वाली ग्रामीण इन्दिरा रसोई, प्रति माह 100 यूनिट मुफ्त विद्युत, महात्मा गाँधी अँग्रेजी माध्यम विद्यालय, हर साल 25 लाख रुपये तक का निःशुल्क इलाज उपलब्ध कराने वाली चिरंजीवी स्वास्थ्य बीमा योजना और गरीबों के लिए 500 रुपये में घरेलू गैस सिलेंडर जैसी योजनाओं के बल पर जहाँ काँग्रेस को भरोसा है कि वह चुनावी वैतरणी पार कर लेगी, वहीं दूसरी ओर विकास की राजनीति करने का दावा करने वाली भाजपा कन्हैया लाल हत्याकाण्ड में काँग्रेस के आतंकियों से सम्बन्ध होने से लेकर रामनवमी और काँवड़ यात्रा पर प्रतिबन्ध लगाने जैसे भ्रामक और आपत्तजिनक आरोप लगाकर चुनाव के साम्प्रदायीकरण की हर सम्भव कोशिश कर रही है।

जो मुद्दे काँग्रेस को परेशान कर सकते हैं, उनमें से एक मुद्दा है पेपर लीक का मुद्दा। 2019 के बाद से हर साल औसतन तीन परीक्षाओं के प्रश्नपत्र राजस्थान में लीक हुए हैं जिनके कारण कई बार परीक्षाएँ तक रद्द करनी पड़ी हैं। स्वयं पायलट तक चुनाव से पूर्व इसे लेकर अपनी ही सरकार के खिलाफ मोर्चा खोल चुके हैं। उनका कहना था कि डेढ़ करोड़ लोग इससे प्रभावित हुए हैं और युवा वर्ग का भविष्य इसके कारण दाँव पर लगा है। अन्य मसलों के साथ-साथ पेपर लीक के मसले पर ऐन चुनाव के वक्त प्रवर्तन निदेशालय (ईडी) का इस्तेमाल करके काँग्रेस को तंग करने में भी भाजपा पीछे नहीं है। ध्यातव्य है कि राजस्थान के चुनावी समर के बीच ईडी द्वारा 2022 की वरिष्ठ शिक्षक ग्रेड परीक्षा के एक प्रश्नपत्र के लीक होने के मामले में प्रदेश काँग्रेस अध्यक्ष गोविन्द सिंह डोटासरा के जयपुर और सीकर स्थित आवासों और दौसा जिले के महुवा में काँग्रेस उम्मीदवार ओम प्रकाश हुडला के होटल पर छापेमारी की गयी है। इसके साथ ही विदेशी मुद्रा उल्लंघन मामले में मुख्यमन्त्री गहलोत के पुत्र वैभव गहलोत को समन भेजकर ईडी ने अपने दिल्ली मुख्यालय बुलाकर पूछताछ की है। चुनावी दंगल में ईडी का राजनीतिक इस्तेमाल छत्तीसगढ़ की तरह राजस्थान में दिखाई देना विपक्षी भाजपा की हताशा का भी व्यंजक माना जा सकता है। केन्द्रीय एजेंसियों के दम पर विपक्षी दलों की सरकारों और उनके नेताओं को प्रताड़ित करने की गन्दी राजनीति द्वारा चुनाव को प्रभावित करना निश्चय ही चिन्ताजनक है।

भ्रष्टाचार के साथ-साथ महिलाओं की सुरक्षा, दलितों के प्रति उत्पीड़न और कानून व्यवस्था के मुद्दों पर भी राजस्थान की काँग्रेस सरकार को घेरने की कोशिश भाजपा कर रही है किन्तु इन मसलों पर काँग्रेस भी भाजपा के दोगलेपन को लेकर आक्रामक नजर आती है। मणिपुर की नस्लीय हिंसा पर भाजपा की खामोशी और उत्तरप्रदेश में महिलाओं पर होने वाली हिंसा को लेकर काँग्रेस द्वारा सवाल पूछे जाते रहे हैं। इन चुनावों में दलित उत्पीड़न वाले मुद्दे पर एक दिलचस्प घटनाक्रम घटा है। जहाँ दलित इंजीनियर से मारपीट के आरोपी बाड़ी के अपने पूर्व विधायक गिर्राज सिंह मलिंगा का टिकट काटकर काँग्रेस ने एक मिसाल पेश की है, वहीं उसे बाड़ी से भाजपा ने अपना टिकट देकर विवाद को जन्म दे दिया है। काँग्रेस इसे भाजपा के दलित विरोधी चरित्र से जोड़कर प्रचारित कर रही है।

तमाम किन्तु परन्तु के बावजूद अशोक गहलोत के नेतृत्व में काँग्रेस की लोककल्याणकारी नीतियों की अनुगूँज भी जमीनी धरातल पर सुनी जा सकती है। केन्द्र सरकार की योजनाओं के लाभार्थियों को भाजपा के पक्ष में लामबन्द करने की प्रधानमन्त्री मोदी की चाल के जबाव में गहलोत सरकार ने राजस्थान में जिस प्रकार समाज के हर जरूरतमन्द तबके के लिए आक्रामक ढंग से विभिन्न योजनाएँ शुरू की, उनकी अहमियत के चर्चे हर गली-मुहल्ले में सुने जा सकते

हैं। रसोई गैस के सिलेंडर और बिजली के बिलों में दिए जाने वाले अनुदान आदि को लेकर विपक्षी भाजपा चाहे गहलोत के ऊपर सरकारी खजाने की बर्बादी के आरोप लगाती रहे लेकिन गहलोत सरकार की इन योजनाओं की तारीफ हर जाति, हर समुदाय और हर धर्म का व्यक्ति कर रहा है। इनके जमीनी क्रियान्वयन को लेकर जरूर कुछ जगहों पर लोगों में शिकायतें देखी जा सकती हैं और उन्हें लेकर प्रशासनिक स्तर पर काँग्रेस सरकार को ज्यादा चाक-चौबन्द रहना चाहिए था।

राजस्थान की राजनीति शुरू से दो ही दलों के इर्द-गिर्द घूमती रही है। पहले काँग्रेस और जनसंघ के बीच चुनावी टक्कर होती थी और जनसंघ के बाद उसका स्थान भाजपा ने ले लिया। आज भी स्थिति में कोई खास बदलाव इस राज्य में नहीं आया है किन्तु त्रिशंकु विधानसभा की स्थिति में निर्दलयी और छोटे दल निर्णायक भूमिका निभा सकते हैं। तीसरी ताकत के रूप में किसी दल विशेष को तो हम नहीं पाते लेकिन दो-तीन दलों का प्रदर्शन जरूर गौर करने लायक होगा। भाजपा छोड़कर 2018 के पिछले विधानसभा चुनाव से ठीक पहले राष्ट्रीय लोकतान्त्रिक पार्टी के नाम से अपना राजनीतिक दल बनाने वाले हनुमान प्रसाद बेनिवाल उस वक्त 3 विधानसभा सीटें जीतने में सफल रहे थे और कई सीटों पर उनकी पार्टी खेल बिगाड़ने में भी कामयाब हुई थी। इस बार अपनी पार्टी की चुनावी सम्भावनाओं में बढ़ोतरी के लिए उन्होंने दलित नेता चन्द्रशेखर आजाद की आजाद समाज पार्टी के साथ गठबन्धन किया है। बसपा पिछले चुनाव में यहाँ 6 सीटें जीतने में सफल हुई थी लेकिन गहलोत के जोड़तोड़ से बसपा के चुनाव चिह्न पर जीते सभी विधायकों के काँग्रेस में शामिल हो जाने से बसपा को जबर्दस्त झटका लगा। मनुवादी दक्षिणपन्थी राजनीति के खिलाफ मायावती की विश्वसनीयता पर उठते सवालों के बीच इस बार बसपा के लिए शायद राजस्थान में अपना पिछला प्रदर्शन दोहराना आसान न हो।

राजस्थान के इन विधानसभा चुनावों में काँग्रेस और भाजपा, दोनों के लिए वे आदिवासी सबसे बड़ा सिरदर्द साबित होने वाले हैं जिन्हें मुख्यधारा की ये दोनों राजनीतिक पार्टियाँ नरम चारा समझती रही हैं। पिछले 10 सितम्बर को डूंगरपुर में जिस भारत आदिवासी पार्टी (बीएपी) का गठन किया गया, उसने अनुसूचित जनजातियों के लिए आरक्षित 25 सीटों में से 17 पर और 5 सामान्य सीटों पर अपने उम्मीदवार खड़े करके दोनों मुख्यधारा की पार्टियों में बेचैनी पैदा कर दी है। इस बेचैनी का कारण है दक्षिण राजस्थान के आदिवासी बाहुल्य क्षेत्रों में इस नयी पार्टी की जबरदस्त पकड़ होना। वास्तव में गुजरात की भारत ट्राइबल पार्टी (बीटीपी) के टिकट पर पिछले विधानसभा चुनावों में दक्षिण राजस्थान से दो विधायक चुने गये थे किन्तु कुछ राजनीतिक मतभेदों के चलते दक्षिण राजस्थान के आदिवासियों ने अब अपनी एक अलग पार्टी (बीएपी) बना ली है और ये दोनों विधायक राजकुमार रोत और रामप्रसाद डिंडोर भी इसी में शामिल हो गये हैं। ध्यातव्य है कि दक्षिण राजस्थान में 21 महाविद्यालयों के छात्रसंघ चुनावों में बीटीपी समर्थित भील प्रदेश विद्यार्थी मोर्चा का प्रदर्शन बहुत शानदार रहा था।

जो मुद्दे काँग्रेस को परेशान कर सकते हैं, उनमें से एक मुद्दा है पेपर लीक का मुद्दा। 2019 के बाद से हर साल औसतन तीन परीक्षाओं के प्रश्नपत्र राजस्थान में लीक हुए हैं जिनके कारण कई बार परीक्षाएँ तक रद्द करनी पड़ी हैं। स्वयं पायलट तक चुनाव से पूर्व इसे लेकर अपनी ही सरकार के खिलाफ मोर्चा खोल चुके हैं। उनका कहना था कि डेढ़ करोड़ लोग इससे प्रभावित हुए हैं और युवा वर्ग का भविष्य इसके कारण दाँव पर लगा है। अन्य मसलों के साथ-साथ पेपर लीक के मसले पर ऐन चुनाव के वक्त प्रवर्तन निदेशालय (ईडी) का इस्तेमाल करके काँग्रेस को तंग करने में भी भाजपा पीछे नहीं है।

बीएपी जैसी आदिवासी केन्द्रित पार्टी के जन्म के साथ-साथ एक और उल्लेखनीय बात इस चुनाव में यह है कि गुर्जर-मीणा विवाद से राजस्थान अब उबर चुका है। किरोड़ी लाल मीणा और किरोड़ी लाल बैंसला ने आरक्षण को आधार बनाकर जिस प्रकार अपने-अपने समुदायों को आमने-सामने ला दिया था, उससे इन दोनों समुदायों में गहरी खाई पैदा हो गयी थी। समय के साथ अब यह खाई पूरी तरह नहीं तो आंशिक तौर पर पट चुकी है और यही कारण है कि काँग्रेस के गुर्जर नेता सचिन पायलट का एक बड़ा समर्थक वर्ग मीणा मतदाताओं का भी है। किरोड़ी लाल मीणा और किरोड़ी लाल बैंसला, दोनों की भाजपायी पृष्ठभूमि भी अब कोई छिपी बात नहीं रह गयी है। जिस पूर्वी राजस्थान में ये दोनों समुदाय मुख्यतः केन्द्रित हैं, आज वहाँ का मुख्य मुद्दा आरक्षण न होकर ईस्टर्न राजस्थान कैनाल परियोजना बनती जा रही है। अकाल और सूखे से प्रभावित इस इलाके के लोग अब सिंचाई का माकूल प्रबन्धन चाहते हैं। आरक्षण के नाम पर दूसरों की कठपुतली बन आपस में टकराना अब उन्हें मंजूर नहीं और यही कारण है कि प्रियंका गाँधी, मल्लिकार्जुन खड़गे और स्वयं अशोक गहलोत तक ने अपने भाषणों में इस मुद्दे को पुरजोर ढंग से उठाया है।

राजस्थान की जनता हर पाँच साल के बाद बारी-बारी से भाजपा और काँग्रेस को सरकार चलाने का जो अवसर देती आई है, उस तीस साल पुराने राजनीतिक ढर्रे पर रोक लगाकर काँग्रेस इस बार सत्ता में वापसी के लिए पूरी तरह से लामबन्द नजर आ रही है। राज्य में मतदान एक ही चरण में 25 नवम्बर को होना है और अभी तक किसी राजनीतिक दल विशेष के पक्ष में कोई लहर तो नहीं दिख रही लेकिन राज्य की सत्ताधारी काँग्रेस की लोककल्याणकारी योजनाओं की स्वीकार्यता स्पष्ट नजर आती है। विपक्षी भाजपा आम चुनाव की तर्ज पर राज्य विधानसभा के इस चुनाव को प्रधानमन्त्री के करिश्माई नेतृत्व के दम पर जीतने की कोशिश कर रही है जबकि काँग्रेस इसे नरेन्द्र मोदी पर केन्द्रित करने से सचेतन बच रही है और उसकी नीति उचित भी है क्योंकि राज्य का चुनाव राज्य स्तरीय मुद्दों पर केन्द्रित होना चाहिए। वैसे भी चुनाव का व्यक्ति केन्द्रित हो जाना लोकतन्त्र के हित में नहीं होता। ■

आवरण कथा

तेलांगना का चुनावी समीकरण

के शक्तिराज

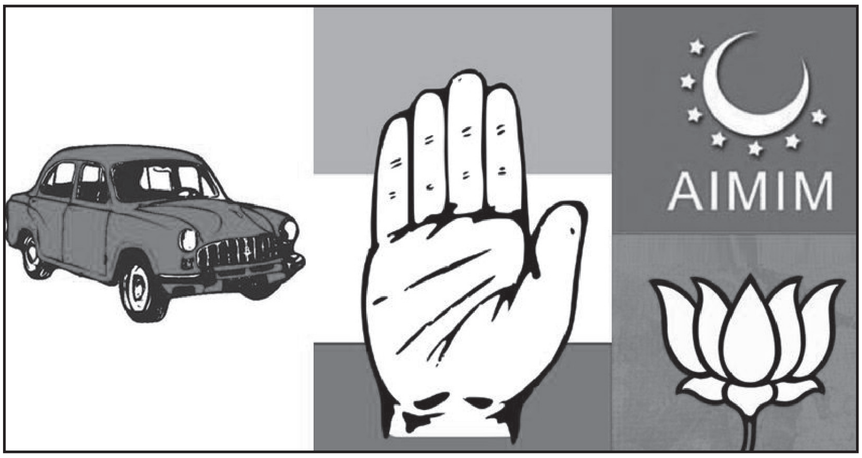

तेलंगाना में राजनीति की दृष्टि से क्षेत्रीय पार्टियों का दबदबा होते हुए भी पिछले विधानसभा चुनाव में बीआरएस और काँग्रेस में सीधी टक्कर थी। लेकिन इस बार समीकरण पूरी तरह से बदल रहा है। जहाँ काँग्रेस फीनिक्स पक्षी की तरह फिर से जीवित हो उठने के लिए तड़प रही है, वहीं भाजपा साम, दाम और दण्ड भेद से किसी भी तरह, महाराष्ट्र की तर्ज पर, अपनी सरकार स्थापित करने की कोशिश में है।

लेखक अध्यापक हैं एवं राष्ट्रीय पत्र-पत्रिकाओं में नियमित लेखन करते हैं।

+8978793338

shaktiraj@gmail.com

राज्य की सरहदों पर पुलिस के अस्थाई टेंट वाले चेक पोस्ट्स बनाए गये हैं, राज्य की सरहदों के अन्दर प्रवेश करने वाले प्रत्येक वाहन की जाँच हो रही है, कारों तथा बसों आदि में थैलियाँ लेकर अपने घरों से निकल पड़े लोगों के थैलों आदि को उल्टा पुल्टा कर के कुछ खोजा जा रहा है। प्रमुख राजनेताओं के पुतलों आदि को कपड़ों से ढका जा रहा है। हवा का रुख पल प्रतिपल बदल रहा है। रैलियों, नारों तथा रंग-बिरंगे लुभावने पर्चों से राज्य का माहौल सहज से असहज में तब्दील हो रहा है। ऐसे में राहत इन्दौरी का यह शेर याद आना भी सहज है–'सरहदों पर बहुत तनाव है क्या / कुछ पता तो करो चुनाव है क्या।''

जी हाँ, देश के पाँच राज्यों–राजस्थान, मध्यप्रदेश, छत्तीसगढ़, मिजोरम और तेलंगाना–में विधानसभा चुनावों का शंखनाद हो चुका है। 7 नवम्बर को मिजोरम से शुरू ये चुनावी मतदान तेलंगाना में 30 नवम्बर को समाप्त होंगे। चुनावी नतीजे दिसम्बर 3 को आएँगे। अनुमान लगाया जा रहा है कि वर्षांत के ये चुनाव आगामी लोकसभा चुनावों के लिए रोड मैप तयार करने में जरूर काम आएँगे।

तेलंगाना, 2 जून, 2014 को आन्ध्र प्रदेश से अलग होकर बना देश का 28 वाँ राज्य है। वर्तमान में यहाँ बीआरएस (भारत राष्ट्र समिति जो पूर्व में टीआरएस-तेलंगाना राष्ट्र समिति हुआ करती थी।) की सरकार है। लगातार दो पाली अकेले अपनी सरकार स्थापित करने में सफल हुई बीआरएस इस बार भी अपनी चुनावी रणनीति की बानगी पेश कर रही है। याद रहे कि तेलंगाना में कुल 119 निर्वाचन क्षेत्र के लिए चुनाव होने हैं जिनमें 18 सीटें अनुसूचित जाति के लिए आरक्षित हैं तो 9 सीटें अनुसूचित जनजाति के लिए। सत्तारूढ़ बीआरएस सरकार कई योजनाएँ अमल में लाने का भरकस प्रयास कर रही है, जिनमें रैतु बीमा, आसरा पेंशन योजना, डबल बेड रूम योजना, दलित बंधु, केसीआर न्यूट्रिशन किट, केसीआर किट, मिशन काकतीय, मिशन भगीरथ, हरित हारम, भेड़ वितरण, धरणी पोर्टल, मन ऊरु–मन बड़ी, कंटी वेलुगु, कालेश्वरम परियोजना, शादी मुबारक योजना, कल्याण लक्ष्मी जैसी कल्याणकारी योजनाएँ प्रमुख हैं। रैतु बंधु योजना के तहत किसानों को हर साल प्रति एकड़ 10,000 रुपये की वित्तीय सहायता प्रदान की जाती है। इन्हीं तमाम योजनाओं के बल पर तथा कुछ इनमें परिवर्तन आदि कर के निश्चित रूप से पुनः अपनी सरकार स्थापित करेंगे इस आत्मविश्वास से बीआरएस चुनाव अभियान में जुटी है।

वैसे देखा जाए तो तेलंगाना में राजनीति की दृष्टि से क्षेत्रीय पार्टियों का दबदबा होते हुए भी पिछले विधानसभा चुनाव में बीआरएस और काँग्रेस में सीधी टक्कर थी। लेकिन इस बार समीकरण पूरी तरह से बदल रहा है। जहाँ

काँग्रेस फीनिक्स पक्षी की तरह फिर से जीवित हो उठने के लिए तड़प रही है, वहीं भाजपा साम, दाम और दण्ड भेद से किसी भी तरह, महाराष्ट्र की तर्ज पर, अपनी सरकार स्थापित करने की कोशिश में है। भले ही इस बार चुनावी टक्कर बीआरएस, काँग्रेस तथा भाजपा में होने वाली हो फिर भी पूर्व आईपीएस अधिकारी रहे आर एस प्रवीण कुमार का राजनीति में प्रवेश कर बीएसपी का दामन थामना भी कहीं न कहीं इस चुनाव में मतदाताओं को प्रभावित कर सकता है। साथ ही साथ स्वतन्त्र तेलंगाना राज्य की माँग को लेकर चले आन्दोलन में तेलंगाना ज्वाइंट एक्शन कमिटी के चेयरमैन के रूप में अपनी सक्रिय भूमिका निभाने वाले प्रो. एम. कोदंडराम की पार्टी 'तेलंगाना जन समिति' भी इस बार सक्रियता बढ़ा सकती है। इधर सीपीआई अपनी हिस्सेदारी को लेकर हमेशा की तरह साँठ-गाँठ में जुटी है। इस बार वह काँग्रेस के साथ खड़ी नजर आती है। वह काँग्रेस से अपने लिए कितनी सीटें आवंटित करने की माँग करेगी और काँग्रेस कितनी सीटों से उसे सन्तुष्ट करेगी यह बहुत जल्द स्पष्ट हो जाएगा। हमेशा की तरह एआईएमआईएम–अपनी सात सीटों पर अपना ही वर्चस्व कायम रहेगा–इसी निश्चिन्तता में अपनी इमोशनल राजनीति को आगे बढ़ाने में तत्पर है। टीडीपी की स्थिति इस बार कुछ खास नहीं दिखाई पड़ रही है। पार्टी अधिनेता एम चन्द्रबाबू नायडू को सीबीआई कोर्ट ने एक घोटाले के आरोप में जेल भेज देने से तेलंगाना के पार्टी कार्यकर्ताओं में कोई विशेष चहल पहल दिखाई नहीं दे रही है। फिर भी पार्टी चुनाव लड़ेगी ऐसी बातें चर्चा में है।

राज्य की आवाम के लिए चुनाव आयोग द्वारा चुनावी तिथियों की घोषणा करना मात्र एक औपचारिक सी बात हो सकती है क्योंकि विधानसभा चुनाव सम्बन्धी माहौल बहुत पहले से अपना रुख अख्तियार कर चुका था। दलित, आदिवासी, मुस्लिम, बीसी, रेड्डीज, वेल्मास और राव्स जाति विशेष को आधार बनाकर सम्पन्न होनेवाले इस चुनाव में, चिकन बिरयानी के पैकेट्स, दारू तथा नकद रुपयों का बाँटा जाना सहज है। वैसे तो तेलंगाना की जनता बहुत समझदार है फिर भी चुनावी प्रक्रिया को लेकर कुछ लोग एक कॉमन सा वाक्य उद्धृत करते हैं वह यह कि ''किसकी सरकार आने से हमारे जिन्दगी में क्या फर्क पड़ेगा? रुपए बाँट रहे हैं तो ले लो, खाना पीना करा रहे हैं तो जी भर कर खावो पियो। चुनाव के दिन किसी एक को वोट देकर आओ बस्स।'' इस बारे में एक प्राइवेट अस्पताल में सैनिटरी डिपार्टमेंट में काम करने वाली 63 वर्षीय लक्ष्मम्मा से जब बात हुई तो उनका कहना था कि ''मैं इस बुढ़ापे में भी 8 घण्टे काम करने को मजबूर हूँ। अब तक कई चुनाव देखे मैंने। जैसे मैं पहले दिहाड़ी मजदूरी किया करती थी आज भी वही कर रही हूँ। उनके (विभिन्न पार्टियों) द्वारा बाँटे जाने वाले चन्द रुपयों से पूरा जीवन तो नहीं चलता। अपने घर तक आकर कोई लक्ष्मी (धन) दे रहा है तो चुप चाप ले लो। फिर दूसरे इलेक्शन तक वो हैं। कोई काम मत करो, सिर्फ बैठे रहो, जो दाना पानी मिले उसे चुगो बस्स!''

पेशे से सरकारी अध्यापक कनिराम जी ने पुरानी पेंशन बहाल करने को लेकर बात कही। उन्होंने कहा ''एक विधायक सिर्फ एक टर्म के लिए विधायक बनता है, फिर दूसरी बार चाहे वह जीते या हारे मरने तक लाखों का पेंशन लेता है। हम तो पूरी जिन्दगी इसमें झोंक देते हैं। हमारा भी तो हक बनता है पेंशन पाने का। जो पार्टी लिखित रूप से पुरानी पेंशन योजना को बहाल करने की बात करेगी उसके बारे में ही विचार किया जाएगा।''

धार्मिकता तथा अन्धविश्वास से दूर रह कर शिक्षा के क्षेत्र में साइंटिफिक टेंपर लाने, बुनियादी शिक्षा व्यवस्था में आमूल परिवर्तन लाने, सरकारी रोजगार साथ साथ अन्य रोजगार सम्बन्धी बातें किसी भी पार्टी के मैनिफेस्टो में जगह नहीं बना पायीं। इस मामले में कुछ पढ़े लिखे युवक, चन्द सरकारी कर्मचारी तथा बौद्धिक वर्ग पूर्व आईपीएस अधिकारी रहे आर एस प्रवीण कुमार पर थोड़ी बहुत उम्मीद लगाए रखे हैं।

बालानगर में एक प्लास्टिक की छोटी सी कम्पनी के मालिक राजेंदर जी का कहना है—''सरकारें जनता को मुफ्त में जो सुविधा दे रही हैं उस पर विचार करने की जरूरत है। बुजुर्गों को बैठे बैठे पेंशन, खेती बाड़ी वालों को साल में दो बार रुपया, रोजगार योजना के तहत पैसा...! इन सारी सुविधाओं के कारण मजदूर मिलना मुश्किल हो गया है। हर कोई बैठे बैठे पेंशन पा रहा है। मजदूर मजदूरी करना भूल रहे हैं।''

भटकेंगे ही नहीं हमारे मोहल्ले में। 'आपका वोट किसे देंगीं फिर?' ऐसा सीधा सवाल पूछने पर उनका तर्क और कुछ ऐसा था–जिसके बारे में मोहल्ले में सहानुभूतिपूर्ण बातें की जा रही हों उसे वोट देने का विचार करूँगी।

बालानगर में एक प्लास्टिक की छोटी सी कम्पनी के मालिक राजेंदर जी का कहना है–''सरकारें जनता को मुफ्त में जो सुविधा दे रही हैं उस पर विचार करने की जरूरत है। बुजुर्गों को बैठे बैठे पेंशन, खेती बाड़ी वालों को साल में दो बार रुपया, रोजगार योजना के तहत पैसा...! इन सारी सुविधाओं के कारण मजदूर मिलना मुश्किल हो गया है। हर कोई बैठे बैठे पेंशन पा रहा है। मजदूर मजदूरी करना भूल रहे हैं।'' डिस्टेंस एजुकेशन से डिग्री फाइनल इयर पढ़ने वाले तथा एक फैक्ट्री में काम करने वाले पवन ने रोजगार को लेकर नाराजगी व्यक्त करते हुए कहा कि–''हमारे जैसे हजारों युवाओं को रोजगार देने के बजाय सरकार बेरोजगारों को पेंशन देने की पहल कर रही है। हम उनकी नजर में पोल्ट्री फार्म के मुर्गे

इस चुनाव में एक सेंटीमेंट खास चर्चा का विषय बना है। वह यह कि अब तक एनटी रामाराव, चन्द्रबाबू नायडू तथा वाई एस राजशेखर रेड्डी को जनता ने सिर्फ दो टर्म के लिए ही चुन लिया था। उस दृष्टि से केसीआर सरकार के भी दो टर्म पूरे हो चुके हैं। क्या जनता इस बार भी अतीत की तरह पेश आती है या बीआरएस हैट्रिक मारकर नया इतिहास लिखेगी? बहरहाल देखना यह होगा कि जनता का झुकाव किस ओर रहेगा। क्या जनता अपनी सूझ बूझ से अपने चेतनामय होने का संकेत देगी या फिर से 'ढाक के तीन पात' बनी रहेगी। इसके लिए 3 दिसम्बर तक इन्तजार करना होगा। ■

राजस्थान में ऊँट किस करवट

शैलेन्द्र चौहान

राजस्थान में चुनाव के कुछ ही दिन और बचे हैं, काँग्रेस की ओर से स्टार प्रचारक प्रचार अभियान में जोरों से लगे हैं लेकिन एक स्टार प्रचारक—राहुल गाँधी, राज्य में किसी रैली या मंच पर गहलोत के लिए वोट माँगते अभी तक नहीं दिखे। बस इसी बात को लेकर चर्चाओं का बाजार गर्म है। राजस्थान के लिए स्टार प्रचारक की लिस्ट में काँग्रेस अध्यक्ष मल्लिकार्जुन खड़गे और सोनिया गाँधी के बाद तीसरा नाम राहुल गाँधी का ही है। लेकिन सवाल यही है कि आखिर एमपी-छत्तीसगढ़ में सक्रिय राहुल गाँधी राजस्थान में दिखाई क्यों नहीं दे रहे?

9 अक्तूबर 2023 को भारत निर्वाचन आयोग द्वारा दिल्ली के आकाशवाणी स्थित रंग भवन सभागार में आयोजित एक पत्रकार संगोष्ठी में भारत के मुख्य निर्वाचन आयुक्त राजीव कुमार द्वारा राजस्थान सहित पाँच राज्यों के आगामी विधानसभा आम चुनावों के कार्यक्रम सम्बन्धी घोषणा की गयी। जिसके अनुसार राजस्थान की सभी 200 विधानसभा सीटों पर 23 नवम्बर 2023 को एक ही चरण में चुनाव आयोजित किए जाएँगे, जिनके परिणाम 3 दिसम्बर 2023 को घोषित किए जाएँगे। काँग्रेस और भाजपा के आन्तरिक सर्वेक्षणों में राजस्थान में दोनों प्रमुख दलों के बीच कड़ी टक्कर होने की सम्भावना है। पिछले चुनाव में काँग्रेस के खाते में 99 सीटें गयी थीं, वहीं भाजपा 73 सीटें जीतने में कामयाब रही। उस चुनाव में काँग्रेस को रालोद का भी साथ मिल जाने से उसकी सीटों का आँकड़ा 100 पहुँच गया और पार्टी बहुमत हासिल करने में कामयाब हो गयी। लेकिन उस चुनाव के कई ऐसे समीकरण रहे जो काँग्रेस को जीत के बाद भी चिन्ताएँ दे गये और भाजपा को कुछ उम्मीदें मिलीं। असल में पिछले चुनाव में कई ऐसी सीटें रही जहाँ पर जीत का अन्तर 1000 वोटों से भी कम का रहा। यानी अगर उन सीटों पर थोड़ा भी फेर-बदल हो जाता तो सत्ता में काँग्रेस की जगह भाजपा भी आ सकती थी। बड़ी बात यह भी है कि राज्य की 10 ऐसी सीटें रहीं जहाँ पर 1000 से भी कम वोटों से हार-जीत तय हुई।

राजस्थान में मुकाबला जरूर भाजपा और काँग्रेस के बीच में रहा, लेकिन कई दूसरी पार्टियों ने भी अपनी उपस्थिति दर्ज करवायी थी। पिछले चुनाव में मायावती की बीएसपी को 6 सीटें, कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ इण्डिया (मार्क्ससिस्ट) को 2, भारतीय ट्रायबल पार्टी को 2, राष्ट्रीय लोक दल को 1, राष्ट्रीय लोकतान्त्रिक पार्टी को 3 सीटें मिली थीं। इसके अलावा 13 निर्दलीयों ने भी एक निर्णायक भूमिका निभायी थी। यहाँ ये समझना जरूरी है कि वर्तमान में राजस्थान विधानसभा की स्थिति कुछ बदली हुई है। इस समय एक तरफ काँग्रेस का आँकड़ा 100 से बढ़कर 108 हो गया है, तो वहीं भाजपा 70 सीटों पर चल रही है। राजस्थान का जैसा ट्रेंड रहा है, यहाँ हर पाँच साल में सत्ता बदल जाती है। इस बार भाजपा भी इसी ट्रेंड के दम पर सरकार में आना चाहती है, वहीं काँग्रेस इतिहास रच उस ट्रेंड को तोड़ना चाहती है। राजस्थान विधानसभा चुनाव के लिए भाजपा ने अभी तक अपने मुख्यमन्त्री पद के चेहरे को घोषित नहीं किया है।

भाजपा की नेता और राजस्थान की पूर्व मुख्यमन्त्री वसुन्धरा राजे ने झालावाड़ में एक जनसभा में अपने सांसद पुत्र दुष्यन्त सिंह के भाषण और उस पर जनता के रिस्पांस की तारीफें

लेखक स्वतन्त्र पत्रकार हैं।
+917838897877
shailendrachauhan@hotmail.com

करते हुए कहा, 'झालावाड़ ने सांसद दुष्यन्त सिंह को इतना सिखा दिया है कि अब मैं रिटायर हो सकती हूँ।' उनके भाषण में इतनी सी बात सुनकर भाजपा के भीतर काफी हलचल होने लगी और उनका यह बयान वायरल हो गया। लेकिन वसुन्धरा राजे ने अगले दिन झालारापाटन से नामांकन दाखिल करने के दौरान कहा, ''मैं रिटायर होने वाली नहीं हूँ। सेवा का कर्म जारी रहेगा। मैंने सांसद दुष्यन्त सिंह की राजनीतिक परिपक्वता से खुश होकर माँ के नाते कहा कि वे झालावाड़-बारां में अच्छा काम कर रहे हैं।'' लेकिन यह सवाल एक सहज जिज्ञासा के रूप में इस बार शुरू से ही पूछा जा रहा है कि अगर वसुन्धरा राजे मुख्यमन्त्री पद का चेहरा नहीं होती हैं तो फिर कौन?

अब तक राजस्थान में भाजपा की रणनीति एकदम अलग थी क्योंकि भाजपा मुख्यमन्त्री पद के लिए कोई चेहरा घोषित नहीं कर रही थी। इस पर चुनाव नतीजों के बाद फैसले की खबर थी। अब खबर है कि भाजपा ने अपनी रणनीति में बदलाव किया है। राजस्थान में वसुन्धरा राजे भाजपा के लिए जरूरी हैं या मजबूरी, इस तरह के सवाल उठ रहे हैं। भाजपा ने राजस्थान में करीब एक महीने पहले एक सर्वे कराया था। सर्वे सीक्रेट था, जिसकी रिपोर्ट भी सीक्रेट ही रखी गयी। रिपोर्ट की जानकारी पार्टी के चन्द बड़े नेताओं के बीच ही थी। रिपोर्ट में राजस्थान में भाजपा की चुनावी सम्भावनाओं का पूरा हिसाब था। पड़ताल में यह बात सामने आयी कि अगर वसुन्धरा को मुख्य मन्त्री का चेहरा बनाया जाए तो भाजपा को फायदा हो सकता है, यानी वोट के मामले में भाजपा को काँग्रेस के मुकाबले निर्णायक बढ़त मिल सकती है। भाजपा की रिपोर्ट जैसे ही दिल्ली पहुँची, इसका असर दिखने लगा। जो भाजपा मुख्य मन्त्री के चेहरे के तौर पर किसी को स्वीकार करने से बच रही थी वह अब मॉडल के तौर पर वसुन्धरा का नाम ले रही है। भाजपा को अब राजस्थान में वसुन्धरा की अहमियत का अन्दाजा होने लगा है।

राजस्थान में चुनाव के कुछ ही दिन और बचे हैं, काँग्रेस की ओर से स्टार प्रचारक प्रचार अभियान में जोरों से लगे हैं लेकिन एक स्टार प्रचारक–राहुल गाँधी, राज्य में किसी रैली या मंच पर गहलोत के लिए वोट माँगते अभी तक नहीं दिखे। बस इसी बात को लेकर चर्चाओं का बाजार गर्म है। राजस्थान के लिए स्टार प्रचारक की लिस्ट में काँग्रेस अध्यक्ष मल्लिकार्जुन खड़गे और सोनिया गाँधी के बाद तीसरा नाम राहुल गाँधी का ही है। लेकिन सवाल यही है कि आखिर एमपी-छत्तीसगढ़ में सक्रिय राहुल गाँधी राजस्थान में दिखाई क्यों नहीं दे रहे? इससे क्या ये संकेत मिलता है कि राजस्थान में रिवाज कायम होगा और काँग्रेस सत्ता से बाहर होगी? या पायलट-गहलोत के बीच के तनाव से इसका कोई लेना देना है? राहुल गाँधी मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़ और तेलंगाना में व्यस्त हैं, छत्तीसगढ़ और मध्य प्रदेश में पहले चुनाव हैं। हालाँकि राहुल गाँधी राजस्थान को लेकर थोड़े निराश भी हैं, उन्होंने इस बात का पहले भी जिक्र किया था कि राज्य में इस बार तगड़ी लड़ाई है। हालाँकि राहुल गाँधी के अब चार दौरे पक्के हो चुके हैं। दीवाली के बाद वे चार बार राजस्थान में आएँगे। यहाँ वे जहाजपुर, जयपुर में रोड शो करेंगे, जोधपुर सम्भाग में भी रैली प्रस्तावित है, फिर गंगानगर में भी एक रैली में वे दिखाई देंगे। दीवाली के बाद ही राजस्थान का चुनावी अभियान उठेगा, प्रियंका गाँधी और खड़गे भी चार-चार रैलियाँ करेंगे।

राजस्थान में 49 लाख नये मतदाता राज्य के 139 विधानसभा सीटों पर कई प्रमुख नेताओं का भविष्य बना या बिगाड़ सकते हैं। वजह है कि 200 विधानसभाओं में से 139 सीटें ऐसी हैं जहाँ मतदाताओं की संख्या पिछले चुनाव में जीत के अन्तर से बढ़ गयी है। चुनाव आयोग के आधिकारिक आँकड़ों के मुताबिक, इस बार विधानसभा चुनाव में 5. 27 करोड़ मतदाता राजस्थान में सरकार चुनेंगे। इनमें से इस बार 48.92 लाख मतदाता नये हैं। नये वोटरों की ताकत का अन्दाजा इसी से लगाया जा सकता है कि पिछली बार भाजपा के पूर्व मन्त्री कालीचरण सराफ महज 1704 वोटों से मालवीय नगर सीट से जीते थे। इसी तरह हवामहल सीट से काँग्रेस के दिग्गज नेता महेश जोशी 9282 वोटों से जीते थे। इस बार सूची में 19076 नये मतदाता हैं।

चूरू में पिछले विधानसभा चुनाव में नेता प्रतिपक्ष राजेन्द्र राठौड़ को बेहद करीबी जीत मिली थी। उनके और काँग्रेस के रफीक मंडेलिया के बीच अन्तर सिर्फ 1850 वोटों का था। इस बार मतदाता सूची में 21,977 मतदाता बढ़े हैं, जो पिछली बार की जीत के अन्तर से 20,127 ज्यादा हैं।

ध्यातव्य है कि राजस्थान में 119 सीटें ऐसी हैं, जहाँ वोटर्स हर बार पार्टी या विधायक को बदलते रहते हैं। इन सीटों पर मतदाता अपने क्षेत्र के मुद्दों, चेहरे, जाति, सक्रियता के आधार पर वोट देते हैं। चुनाव में पार्टियाँ दो स्तर पर चुनाव लड़ रहीं हैं। एक मुद्दों के आधार पर, तो दूसरा जाति पर। विधानसभा चुनावों में विकास और धर्म के मुद्दे जरूर हैं, लेकिन जातियों का दबदबा इनसे जरा भी कम होता नजर नहीं आ रहा। अधिकतर राजनीतिक दल जातिगत समीकरण को देखते हुए ही चुनावी मैदान में ताल ठोक रहे हैं।

दोनों दलों की स्थिति जानना दिलचस्प है कि किसने किस जाति को ज्यादा महत्त्व दिया है। राजस्थान विधानसभा में 200 सीटें हैं और यहाँ सबसे ज्यादा जाट और एससी-एसटी का दबदबा रहा है। इसके बाद राजपूतों का नम्बर आता है। काँग्रेस और भाजपा ने इसे ध्यान में रखते हुए टिकट बाँटे हैं। भारतीय जनता पार्टी और काँग्रेस ने सभी 200 विधानसभा सीटों पर उम्मीदवारों का ऐलान कर दिया है। काँग्रेस ने जाट समाज से 36 प्रत्याशियों को मौका दिया है, जबकि भाजपा ने 33 को टिकट दिया है। बात एससी वर्ग की करें तो काँग्रेस ने 34 सीटों पर इन्हें उतारा है, तो भाजपा ने भी इतने ही एससी को टिकट दिये हैं। काँग्रेस ने 33 एसटी उम्मीदवारों को टिकट दिया है, जबकि भाजपा ने 30 को मौका दिया है।

काँग्रेस ने जहाँ 17 सीटों पर राजपूत प्रत्याशी उतारे है, तो वहीं भाजपा ने 25 राजपूत उम्मीदवारों को मौका दिया है। काँग्रेस ने 16 ब्राह्मण उम्मीदवार उतारे हैं, तो भाजपा ने 20 ब्राह्मणों को टिकट दिया है। बनिया समाज से 11 उम्मीदवार काँग्रेस ने उतारे हैं तो भाजपा ने भी इतने ही प्रत्याशियों को मौका दिया है। काँग्रेस की सूची में 15 मुस्लिम उम्मीदवार हैं, जबकि भाजपा ने एक भी मुस्लिम को टिकट नहीं दिया है। काँग्रेस ने 11 गुर्जरों को मैदान में

उतारा है, तो भाजपा ने 10 को। माली समाज की बात करें तो काँग्रेस ने 4 को टिकट दिया है, जबकि भाजपा ने 3 को। लोग बोल रहे हैं–मुद्दे सब गायब हैं, बचा है बस गाय-गोबर और हिन्दू-मुस्लिम।

टिकट बँटवारे में इस बार भी जाटों का ही वर्चस्व दिखाई दिया।

राजस्थान के उत्तर पश्चिम के सीकर, चूरू, झुंझुनूं, हनुमानगढ, बीकानेर, नागौर, जोधपुर, बाड़मेर, और पूर्वी राजस्थान के भरतपुर और धौलपुर जिलों में यह समुदाय सबसे ज्यादा है। प्रदेश की आबादी में इनकी संख्या करीब 12 प्रतिशत मानी जाती है। यही कारण है कि दोनों ही दल इस समुदाय के प्रत्याशियों की अनदेखी नहीं कर पाते। इस बार के चुनाव में भी दोनों ही दलों ने सबसे ज्यादा टिकिट इसी समुदाय को दिये हैं। हालाँकि, यह समुदाय इससे सन्तुष्ट नहीं है। जाटों ने इस वर्ष अप्रैल में और इसके बाद हाल में पिछले महीने बड़ी बैठकें कर अपना प्रतिनिधित्व और बढ़ाने की माँग उठायी थी। दोनों ही दलों ने इस माँग को मानते हुए पिछली बार के मुकाबले टिकट बढ़ाये भी हैं। दरअसल, यह समुदाय लम्बे समय से प्रदेश में एक जाट मुख्यमन्त्री का सपना देख रहा है, लेकिन, यह सम्भव नहीं हो पा रहा है।

मुस्लिम समुदाय परम्परागत तौर पर काँग्रेस का ही वोट बैंक माना जाता है। भाजपा को मुसमलानों के वोट नहीं के बराबर मिलते हैं। पिछले चुनाव की स्थिति यह थी कि जयपुर के मुस्लिम बाहुल्य बूथों पर पार्टी को दो से चार वोट ही मिल पाए थे। यही कारण है कि इस बार पार्टी ने मुस्लिम समुदाय से पूरी तरह परहेज किया है। पिछली बार वसुन्धरा सरकार के मन्त्री युनूस खान को टिकट मिल गया था, लेकिन इस बार तो उन्हें भी वंचित कर दिया गया। स्थिति यह तक देखने में आयी कि एक प्रत्याशी के बारे में जब यह पता चला कि उसने धर्म के मामले में गलत जानकारी दी है तो उसका टिकट बदल दिया गया। ऐसा अजमेर जिले की मसूदा सीट से अभिषेक सिंह के साथ हुआ। पार्टी को दिए अपने बायोडाटा में उन्होंने खुद को रावत राजपूत बताया था, लेकिन एक सरकारी दस्तावेज में पता चला कि उनकी जाति मेहरात है जो इस इलाके में कन्वर्ट मुस्लिम माने जाते हैं। जानकारी सामने आते ही पार्टी ने टिकट बदल कर वीरेन्द्र कानावत को दे दिया। वहीं, काँग्रेस का मुस्लिम प्रेम लगातार जारी है। पार्टी ने पिछली बार इस समुदाय को 15 टिकट दिये थे। इस बार 14 टिकट दिये हैं।

इसके साथ ही अपने वोट बैंक के हिसाब से टिकट देने की परम्परा इस बार भी कायम है। भाजपा ने अपने कोर वोट बैंक माने जाने वाले राजपूत, वैश्य और ब्राह्मण समुदाय को काँग्रेस के मुकाबले ज्यादा टिकट दिये हैं। इस साल के बजट और इसके बाद की घोषणाओं से मुख्य मन्त्री गहलोत ने चुनाव से पहले पूरी काँग्रेस में जान फूँकने का प्रयास किया है। चुनाव में ये घोषणाएँ विपक्ष को जवाब देने के काम आ सकती हैं, लेकिन उन्हें विशेष वर्गों की नाराजगी को भी साधना होगा।

दरअसल, राजस्थान में जाति फैक्टर बहुत बड़ा है और यह कई सीटों पर नतीजों को प्रभावित करता है। बात चाहे भारतीय जनता पार्टी की हो या फिर काँग्रेस की, दोनों ही दलों ने टिकट देते वक्त जातिगत समीकरण का काफी ध्यान रखा है। जिस सीट पर जिस पार्टी का उम्मीदवार है, वहाँ उसी वर्ग के उम्मीदवार को तवज्जो दी गयी है। विधानसभा चुनाव के एलान से पहले प्रदेश भर में राजपूत, ब्राह्मण, जाट, एससी, एसटी और वैश्य वर्ग के बड़े-बड़े सम्मेलन हुए। टिकटों में ज्यादा हिस्सेदारी पाने के लिए जातिगत गोलबन्दी की गयी। आइए, जानते हैं भाजपा और काँग्रेस ने किस समाज से कितने उम्मीदवारों को टिकट दिया है।

चुनाव अब दिलचस्प मोड़ पर पहुँच गया है। दोनों ही दलों के बागियों ने संघठन के चुनाव रणनीतिकारों के पसीने छुड़ा रखे हैं। 9 नवम्बर नाम वापसी की आखिरी तारीख थी। ऐसे में भारतीय जनता पार्टी बागियों की मान-मनोव्वल में जुटी हुई थी। सिरोही पहुँचे भाजपा प्रदेश प्रभारी अरुण सिंह ने चुनाव की रणनीति को लेकर पूछे गये सवाल पर जवाब देते हुए बताया ''जो पार्टी कार्यकर्ता, नेता नाराज थे, उनमें से ज्यादातर को मना लिया गया है। बहुत कम ऐसे लोग बचे हुए हैं जो नाराज हैं।'' हाल ही में भाजपा में शामिल हुए रवीन्द्र सिंह भाटी के नाराज होकर चुनाव लड़ने के सवाल का जवाब देते हुए प्रदेश प्रभारी अरुण सिंह ने कहा कि उनसे बात हुई है। वहीं, हाल ही में राज्य में नये जिला बनाए गये सांचोर की सांचोर विधानसभा सीट पर भी भाजपा को विरोध का सामना करना पड़ रहा है। इस सीट पर वर्तमान भाजपा सांसद देव जी पटेल को पार्टी ने अपना उम्मीदवार बनाया है। उन्हें काँग्रेस के सुखराम विश्नोई के सामने मैदान में उतारा है। सुखराम विश्नोई गहलोत सरकार में मन्त्री है। वह इलाके के कद्दावर नेता माने जाते हैं। ऐसे में अपनों की बगावत से इस सीट पर भाजपा मुश्किल में पड़ती दिखाई दे रही है। कई बागी नेताओं ने अपना नाम वापस लिया. जिसके बाद कई सीटों पर भाजपा-काँग्रेस में आमने-सामने की टक्कर की स्थिति साफ हो गयी है। पार्टी से टिकट नहीं मिलने पर निर्दलीय चुनावी मैदान में उतरने वाले उम्मीदवारों ने पार्टी नेताओं द्वारा मनाने पर अपना हठ त्यागते हुए पार्टी हित की बात की है। अब देखना यह है कि आखिर चुनावी ऊँट किस करवट बैठेगा। ■

'हाथ' में खिल सकता है 'कमल'

रमेश कुमार 'रिपु'

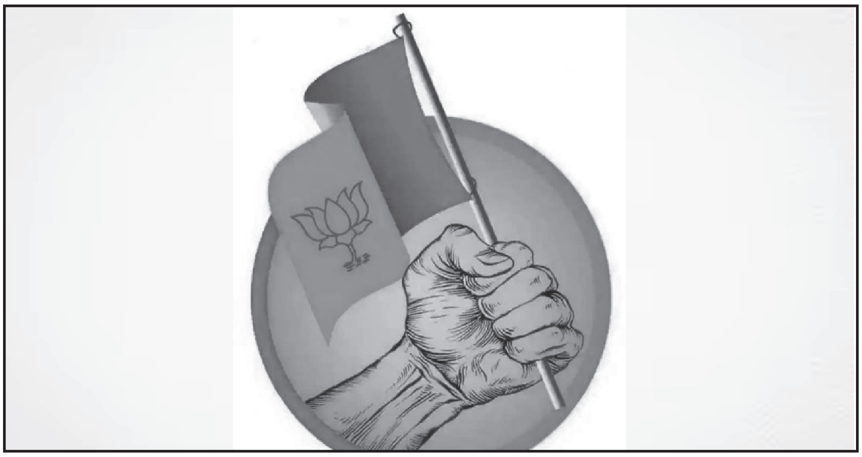

भाजपा मानती है कि भूपेश सरकार के भ्रष्टाचार और झूठे घोषणा पत्र से प्रदेश व्यापी गुस्सा है। जबकि काँग्रेस को अपने काम काज पर भरोसा है। वहीं महादेव एप काण्ड और ई.डी.के साइड इफेक्ट का असर चुनाव पर पड़ा तो 'हाथ' में 'कमल' खिल सकता है। काँग्रेस जीतती है तो राहुल गाँधी के लिए संजीवनी सिद्ध होगा। यदि चुनाव परिणाम विपरीत आते हैं, तो यही कहा जाएगा कि हिन्दी पट्टी पर अमित शाह और मोदी को मात देना मुश्किल है।

लेखक वरिष्ठ पत्रकार हैं।
+917974304532
rameshripu@gmail.com

छत्तीसगढ़ में छह माह पहले काँग्रेस फील गुड महसूस कर रही थी। उसकी वजह यह है, कि उसे सर्वे में 50-55 सीट मिल रही थी। लेकिन अब वैसी स्थिति नहीं है। राज्य में लगातार भूपेश सरकार के खिलाफ ई.डी. की कार्रवाई को भाजपा ने भुनाने की पूरी कोशिश की। उसने यह प्रचारित किया, कि भूपेश सरकार भ्रष्ट है। कोयला घोटाला,शराब घोटाला,आवास घोटाला, गोठान घोटाला और पीडीएस घोटाला, से भूपेश सरकार की छवि खराब हुई है। राज्य में धार्मिक दंगा और धर्म परिवर्तन की घटनाओं से भी भूपेश सरकार की छवि मलीन हुई। बावजूद इसके मुख्यमन्त्री भूपेश बघेल गढ़बों नवा छत्तीसगढ़ के नारे को तामीर करने में लगे रहे। अपनी सरकार को किसानों और आदिवासियों की सरकार बताने में कोई कसर नहीं छोड़ी। यह अलग बात है कि राज्य में पिछले छह माह में एक दर्जन से अधिक भाजपा नेताओं की हत्या नक्सलियों ने की। भूपेश सरकार ने पाँच साल बाद भी नक्सल नीति नहीं बनायी। नक्सली आतंक में पचास फीसदी की कमी आने का दावा भूपेश सरकार इश्तिहारों में करती आयी है। फिर सीआरपीएफ और आदिवासियों की लाशें गिनने का सियासी उपक्रम बन्द नहीं हुआ।

चुनाव से पहले भूपेश सरकार को लेकर गढ़ा गया नारा, भूपेश है तो भरोसा है, में झुर्रियाँ आ गयी हैं। भरोसे की सरकार की दीवार में भ्रष्टाचार के कई सुराग हो जाने से सब कुछ आर-पार दिखने लगा। आईएएस अफसर सौम्या चौरसिया, रानू साहू, समीर विश्वनोई, सुनील अग्रवाल और सूर्यकांत तिवारी को जेल हो गयी। बावजूद इसके भूपेश सरकार के परीक्षा की घड़ी है। भाजपा को लगता भूपेश सरकार की काली करतूतों की वजह से चुनावी ऊँट उनके पक्ष में करवट लेगा।

भाजपा के अनुसार राज्य में सत्ता विरोधी लहर की बातें तैर रही हैं। वहीं पहले चरण के बीस विधान सभा में हुए मतदान को लेकर डॉ. रमन सिंह कह रहे हैं, भाजपा 13 से15 सीट जीत रही है। जबकि भूपेश बघेल कहते हैं,एक भी सीट भाजपा को नहीं मिल रही है। सियासी आकलन के मुताबिक दोनों पार्टियों को दस-दस सीटें मिल रही है। बस्तर की सभी 12 सीटों पर काँग्रेस का कब्जा था। लेकिन इस बार काँग्रेस की सीट घट जाएगी। कोंटा में आबकारी मन्त्री कवासी लखमा और माकपा नेता मनीष कुंजाम के बीच काँटे की टक्कर है। बस्तर संभाग में भाजपा को पाँच से छह सीट मिल सकती है। पाटन में छजका पार्टी के प्रदेश अध्यक्ष अमित जोगी के चुनाव लड़ने से मुख्य मन्त्री भूपेश बघेल की सीट फँस गयी है। यहाँ का ज्यादातर साहू और सतनामी अमित जोगी के पक्ष में हैं। छजका ने राज्य में 81 उम्मीदवार उतारे हैं। मन्त्री

रवीन्द्र चौबे, मोहम्मद अकबर और रूद्रगुरू की सीट संशय में है। भाजपा ने मुख्यमन्त्री का चेहरा नहीं बताया है। लेकिन अमित शाह ने संकेत दिया है, कि प्रदेश में भाजपा की सरकार बनी तो कलेक्टर रहे ओ पी चौधरी और प्रदेश अध्यक्ष अरूण साव को बड़ा बनाना है।

काँग्रेस से नाराज होकर हमर राज पार्टी बनाने वाले काँग्रेस के वरिष्ठ नेता अरविन्द नेताम ने 12 उम्मीदवार उतारे हैं। भानुप्रतापपुर, कांकेर, केशकाल, कोंडागाँव, बस्तर, नारायणपुर और बीजापुर विधानसभा सीट में अपने प्रत्याशी खड़े किये हैं। लेकिन जगदलपुर, दंतेवाड़ा, चित्रकोट, अंतागढ़ और सुकमा विधानसभा को छोड़ दिया है। इन सीटों में सर्व आदिवासी समाज किस पार्टी या प्रत्याशी का समर्थन कर रही है, अरविन्द नेताम ने इसका खुलासा नहीं किया है। अरविन्द नेताम सर्व आदिवासी समाज को इस चुनाव में कहाँ तक ले जाएँगे, वे खुद भी नहीं जानते। इसके पहले सन् 2013 में उन्होंने पूर्व भाजपा सांसद सोहन पोटाई के साथ मिलकर जय छत्तीसगढ़ पार्टी बनायी थी। चुनाव में सभी 12 प्रत्याशियों की जमानतें जब्त हो गयी थीं।

वर्तमान में अनुसूचित जाति की 39 सीटों में से 34 काँग्रेस के पास है। राज्य विधानसभा की कुल 90 सीटों में अनुसूचित जाति जनजाति की सीटें निर्णायक भूमिका में रहती हैं। जिस पार्टी की इन पर मेहरबानी हो जाती है, उसकी सरकार बन जाती है। जैसा कि 2018 के चुनाव में काँग्रेस का हुआ था। एस.टी की 29 सीट है और एससी की 10 सीटें हैं।

राज्य में किसानों ने खूब कर्ज ले रखा है। वे जानते हैं कि भाजपा की सरकार बनी तो उसका कर्जा माफ नहीं होगा। लेकिन काँग्रेस की सरकार बनी तो उसका कर्ज माफ हो जाएगा। इसलिए वह काँग्रेस की ओर झुक रहा है। काँग्रेस के घोषणा पत्र में लिखा है कि सरकार बनने पर पहले की तरह किसानों का कर्जा माफ होगा। 31 सौ रुपये प्रति क्विंटल धान सरकार खरीदेगी साथ ही प्रति एकड़ 20 क्विंटल। के. जी. से पी.जी. तक पढ़ाई होगी मुफ्त। लघु वनोपजों पर एमएसपी के अतिरिक्त दस रुपये। तेंदूपत्ता संग्राहकों को चार हजार रुपये सालाना बोनस। जातिगत जनगणना कराएँगे। 17.50 लाख गरीब परिवार को आवास देंगे।

भाजपा ने बाल महिलाओं को महतारी वन्दन योजना के तहत 12 हजार और प्रदेश की सभी वर्ग की महिलाओं को हर माह एक हजार रुपये देने की बात की है। प्रदेश के युवाओं को 50 फीसदी सब्सिडी के साथ ब्याज मुक्त ऋण देने की बात तो दूसरी ओर सत्ता में आने पर काँग्रेस ने गृहलक्ष्मी योजना के तहत साल में पन्द्रह हजार रुपये देने का वादा किया है। बीपीएल की बालिकाओं के जन्म पर एक लाख पचास हजार रुपये का आश्वासन प्रमाण पत्र दिया जाएगा। भूपेश बघेल कहते हैं, मोदी की गारण्टी योजना फर्जी है। समर्थन मूल्य से अधिक कीमत पर धान खरीदी पर केन्द्र सरकार ने रोक लगा रखी है। ऐसी स्थिति में भाजपा कैसे बोनस देगी। जबकि हम किसानों को दे रहे हैं। हमारी सरकार बनने पर जो कहा है वह करेंगे।

केन्द्रीय सूचना व प्रसारण युवा मामले तथा खेलमन्त्री अनुराग ठाकुर ने कहा कि काँग्रेस की झूठी गारण्टी का आलम यह है कि छत्तीसगढ़ से लेकर कर्नाटक और हिमाचल तक काँग्रेस की तमाम गारंटियाँ फेल हुई हैं। जिनकी खुद की कोई गारण्टी नहीं, वह गारंटियों का पुलिंदा लेकर घूम रहे हैं। काँग्रेस ने सन् 2018 के घोषणा पत्र में वृद्धावस्था पेंशन राशि 350 से 1000 तक करने की बात की थी, पर किया नहीं। भाजपा मानती है, कि भूपेश सरकार के भ्रष्टाचार और झूठे घोषणा पत्र से प्रदेश व्यापी गुस्सा है। जबकि काँग्रेस को अपने काम काज पर भरोसा है। वहीं महादेव एप काण्ड और ई.डी. के साइड इफेक्ट का असर चुनाव पर पड़ा तो 'हाथ' में 'कमल' खिल सकता है।

प्रधानमन्त्री नरेन्द्र मोदी ने कहा, सुपर सी.एम. और अधिकारियों ने इतना भ्रष्टाचार किया कि सी.एम. विधायक का चुनाव भी हार रहे हैं। जिस काँग्रेस को गणित सिखाने का शौक है, उससे सवाल है, कि महादेव एप में 508 करोड़ रुपये से अधिक बँटने के आरोप हैं। जाँच एजेंसियों के छापों में पैसे के ढेर पकड़े गये हैं। बताएँ सी.एम को कितना मिला और दिल्ली कितना गया। भूपेश बघेल ने कहा, जेल में बन्द ड्राइवर असीम दास ने कोर्ट में कहा, उसे राजनीतिक साजिश के तहत फँसाया गया है। होटल की पार्किंग में कार रख दिया था। मुझे नहीं पता कि किसने पैसा रखा है। ईडी से ट्रैप करवाने के लिए गाड़ी में पैसा रखवाया गया है।'' जिस गाड़ी में पैसा मिला वह पूर्व मन्त्री के भाई की गाड़ी है।

भाजपा सांसद और पाटन से भाजपा प्रत्याशी विजय बघेल जो कि मुख्यमन्त्री भूपेश बघेल के भतीजे हैं, ने कहा कि छत्तीसगढ़ पर 82 हजार करोड़ रुपये का कर्ज है और छत्तीसगढ़ की जनता यह मान चुकी है कि अगर भूल से भी काँग्रेस को सत्ता में आने का मौका मिल गया तो काँग्रेस की सरकार छत्तीसगढ़ को बेचने की कोई कसर नहीं छोड़ेगी।''

बहरहाल काँग्रेस जीतती है तो राहुल गाँधी के लिए संजीवनी सिद्ध होगा। यदि चुनाव परिणाम विपरीत आते हैं, तो यही कहा जाएगा, कि हिन्दी पट्टी पर अमित शाह और मोदी को मात देना मुश्किल है।

■

छः कविताएँ

सृजनलोक

जोशना बैनर्जी आडवानी

स्केच : *नूपुर अशोक*

जन्म : 31 दिसम्बर 1983, आगरा।
शिक्षा : एम.एड्., पी.एचडी।
दो कविता संग्रह–'सुधानपूर्णा' और 'अंबुधि में पसरा है आकाश' प्रकाशित।
अँग्रेजी, मराठी, पंजाबी, मैथिली, तेलगु, बांग्ला और नेपाली भाषाओं में कविताओं का अनुवाद।
सीबीएसई किताबों का संपादन।
दीपक अरोड़ा स्मृति सम्मान-2019 तथा रजा फेलोशिप -2021 से सम्मानित
(कथकगुरू शम्भू महाराज जी पर विस्तृत कार्य)।
सम्प्रति : सेंट जेवियर्स स्कूल में प्रधानाचार्या पद पर कार्यरत।
सम्पर्क : jyotsnaadwani33@gmail.com / +916398598004

जोशना हिन्दी कविता का नया स्वर हैं। काव्य-संग्रह सुधानपूर्णा की कविताओं से फूटते आकुल आलाप-स्वर से एक संवेदनशील और सशक्त कवि के आने की आहट मिली थी! बंगाल की काव्य-परम्परा के गर्भ में पलती युक्तियों के पुनराविष्कार से सर्वथा निजी और नवीन काव्य-युक्तियों के सृजन की विलक्षण क्षमता ने जोशना को व्यापक पाठक-वर्ग दिया है। रूढ़ियों को तोड़कर नया सृजित करना और सामाजिक यथार्थ को कविता के गहन अनुभव में बदल कर पाठकों के मर्म तक पहुँचाना इनकी विशिष्टता है। दृष्टि की गहराई सहज दिखने वाली वस्तुओं और स्थितियों में भी अर्थ ढूँढ लेती है और उन्हें जीवन के विविध आयामों से जोड़कर जीवन को व्याख्यायित करती है। 'सुपारी के पेड़ों के नीचे पान के आकार का मन लिए थोड़ी देर बैठ रही हूँ / दुख आता ही होगा अपने कत्थे से चीरने मुझे...' जैसी पंक्तियाँ इसका उदाहरण हैं। कविताओं में चाय छन्नी, जूता, बिस्तर, छाता आदि की भौतिकता जय-पराजय, व्यथा जैसे भावों तक विस्तार पाती है। जीवन के दुखों और संघर्षों का सन्धान करती हुई जोशना की काव्य-भाषा में लोक की प्राणवन्तता विन्यस्त है!

—हृषीकेश सुलभ

जाने की झंकारराशि

जाने का शिल्प, जाने की इयत्ता,
जाने की कथावस्तु,
चले जाने के बाद भी
चले जाने से भी अधिक बहुआयामी लगता है
जाने से पहले प्रथमतः जाने जैसा मन नहीं करता
जाने का दिखावा करने का मन
अधिक करता है
द्विविध मन दिखता है कठोर,
भाग्य में जाने का लिखा हुआ
न ही सम्पादित किया जा सकता है
न ही संशोधित

जाने के बाद, कितनी बार
जाने को व्याख्यायित और आलोचित किया जाता रहा
जाने से पहले थोड़ा रुक सकना
लगता है मरण से भी कठिन
जाना हो तो दिखना कठोर।

तो यह कि अब प्रश्न करने लगी है हर चीज

तो यह कि अब प्रश्न करने लगी है हर चीज
चाय छनने से पहले पूछ रही है
कि अगर पियो तभी छानना मुझे
जूता पैर में अटने से पहले पूछता है
दूर तक चलो तभी पहनना मुझे
छाता बारिशों में कहता रहा
भीगोगे नहीं तो जल का तिरस्कार होगा
बिस्तर पूछता है इतनी करवटें लेना
अब बन्द करोगी
विकल्प सारे पंक्तिबद्ध होकर बैठकर पूछते हैं
कोई क्रान्ति करो तो हम उठें
पराजय अब ये पूछने लगा है
कि जीत कर अकेले तो न पड़ जाओगी

तो यह कि इस बार आर्ट गैलरी के पाँच
आमन्त्रण रद्द किये
समय पर दवाइयाँ न ली गयीं तो
जल्द ही कुछ आकृतियाँ दिखेंगी
मन इतना पत्थर हुआ
कि वधस्थल तक ले जाया जाने वाला पशु
अब हृदय को नहीं चीरता
ट्रेन की बर्थ पर छूटी एक किताब के लिए
इस बार जाने क्यों मन व्यथित नहीं हुआ
विसर्जन करते समय इस बार एक अश्रु न
निकला आँख से

बगुले जैसा ध्यान करने पर
रसोई में पकती रोहू ध्यान खींच लेती है

तो
एक लाल नदी जो स्त्रियों से बहकर
बाहर निकल रही थी
कुछ लोगों ने उसी में मृत्युरोग के कीटाणु ढूँढे

तो यह कि
ऊँट लगता है प्रत्येक मार्ग
और हमारा जीवन एक जीरा

तो यह कि अविश्वसनीय रूप से
एक स्वप्न टूटने पर भी
मन व्यथित नहीं होता
वह क्या कहते जापानी भाषा में 'बोकेट्टो',
देर तक बिना मकसद आकाश में देखने वाली बीमारी,
यही बीमारी होती जा रही है सबको
तो यह कि हर कदम जो हम धरती पर रखते है
वहीं वहीं एक इच्छाशव पड़ा मिलता है
तो यह कि जो हृदय तितलियों पर
मोहित होता है
वही हृदय मकड़ियों को पैरों के नीचे
दबा देता है

तो अब यह कि बस कविता ही कुछ नहीं पूछती
सर फटने से पहले पूछ रहा है
मर सको तो ही फटूँगा मैं
बस दवाई, अस्पताल तक के सफर के लिए
न फाँड़ो मुझे

सर दुःख रहा है
एक कप चाय लाना कोई!

अनिच्छुक

अनिच्छुक एक झरी पत्ती ने पेड़ से पूछा
मुझसे अलग होकर कैसा लगता है
पेड़ ने कहा
जैसे देह का एक अंग टूटकर गिरा हो पृथ्वी पर
हवा उड़ाकर इस अंग को जाने कहाँ ले जाए
यह प्रकृति का छल जो मनुष्य ने सीखा
यथेष्ट किया
छले जाने के बाद छल की पुष्टि हुई
जब छला जा रहा था
नहीं पता चला
इसे अनन्य रूप से उल्लेखनीय बनाए
जाने की आवश्यकता थी
छल रहे लोगों के मध्य रहने के बावजूद
सबकुछ जाना नहीं गया
छलियों का चेहरा अपनों के चेहरों से मिलता था

गहन विपत्ति में छलियों को धन्यवाद किया।

जंगल कितना अजस्र

आख्यान की तरह हवा पहुँचती है
अपढ़ जंगलवासियों तक
हम कहते हैं दोस्त से देखो बारासिंगा,
गिद्ध, उल्लू
ध्वनि सुनकर गाड़ियों की
वे अवश्य कहते होंगे, ''देखो मनुष्य आया''
और पीठ दिखा कर चल देते हैं
गन्ध हमारी अवश्य पहुँची होगी बाघ तक
हम ढूँढ रहे थे बाघ को
बाघ को आवश्यक नहीं लगा,
वे हमें देखने निकलते

जंगल में घुसा मनुष्य जंगलवासियों को लगता है
एक प्रश्नवाचक चिह्न
जंगल ऐकान्तिक है
मनुष्य जंगल में घुसता है
जंगल हो जाता है अपूर्ण।

नाम लिखा था

पातों पर तितलियों का नाम लिखा था
वृक्ष पर लिखा था पाखियों और उनकें बच्चों का नाम
घासों पर टिड्डों का नाम लिखा था
आमों पर लिखा था कीटों का नाम
मंजिरियों पर भवरों का नाम लिख रखा था ईश्वर ने
अँधकार पर कुछेक मनुष्यों का नाम लिखा था
नदी के ऊपर नाविकों के नाम थे
नदी तल पर मन्नत माँगने वालो के नाम
दुर्घनाओं पर अंगों के नाम लिखे थे
ठोकर पर दीन का नाम।

सुपारीफल की स्मृति में

पंक्तिबद्ध सुपारी के पेड़ों पर
फलों को देखकर लगा
जैसे फल नहीं, अपनों के चेहरे हों
जितने सुपारीफल उतने चेहरे
असम में इतने सारे चेहरों को देखकर लगा
पेड़ पर लटके मनुष्य अधिक धीर दिख रहे
सुपारी भी तो मनुष्यों की तरह
जल निकासी के लिए जगह ढूँढता है
अन्तर मात्र यह
कि मनुष्यों को इतनी जगह मिल नहीं पाती

अंडमान की एक लोक कथा
गिरि और शोआन में
आधी रात में समुद्र के अन्दर से पुकारती गिरि,
'लौट आओ शोआन, लौट आओ शोआन',
समुद्र के किनारे को दर्दीला बना देती है
यहाँ सुपारीफल स्तिमित देह का
ताप नापने में लगा है
उधर और कोई अन्यतम कामना नहीं दिखती
सुपारी के पेड़ों पर
मात्र सुपारी दे सकने के अलावा

बूढ़ी औरतें बनाती हैं पेड़ की छाल से
दोने और पत्तल
मेरी देह की छाल से तो कुछ भी नहीं बन सकता
प्रतिश्रुतियाँ सारी अपंग बैठी हैं

एक धिक्कार की टहनी निकल रही है कन्धों से
परन्तु उस पर सुपारीफल नहीं उगता

पैंतीस फीट ऊँचा पेड़
मेरा पाँच फीट कुछ इंच ढाँपने में असमर्थ रहा

सुपारी के पेड़ों के नीचे
पान के आकार का मन लिए
थोड़ी देर बैठ रही हूँ
दुःख आता ही होगा अपने कत्थे से चीरने मुझे
वह आए, उससे पहले
नेत्रहीन सुपारी को दिखा दूँ अपना मन, तो चलूँ।

■

साक्षात्कार

गाँधीजी की पत्रकारिता लोक शिक्षण की पत्रकारिता है

अच्युतानन्द मिश्र से **पुखराज जाँगिड़** की बातचीत

6 मार्च 1937 को गाजीपुर (उत्तर प्रदेश) में जन्मे अच्युतानन्द मिश्र राष्ट्रीय पत्रकारिता का एक विश्वसनीय नाम हैं। पत्रकार-संगठनों के अगुआ के रूप में आपने देशभर का ध्यान पत्रकारों के संकटों और संघर्षों की ओर आकृष्ट किया। 'जनसत्ता', 'नवभारत टाइम्स', 'अमर उजाला', 'लोकमत समाचार' के सम्पादक के रूप में आपने हिन्दी पत्रकारिता को नया तेवर प्रदान किया। 'माखनलाल चर्तुवेदी राष्ट्रीय पत्रकारिता एवं संचार विश्वविद्यालय', भोपाल के कुलपति के रूप में आपने भारतीय पत्रकारिता पर कई महत्त्वपूर्ण शोध-परियोजनाएँ संचालित कीं। भारतीय पत्रकारिता के क्षेत्र में अवदान के लिए श्री गुरु गोबिन्द सिंह त्रिशताब्दी विश्वविद्यालय, गुरूग्राम के चौथे दीक्षान्त समारोह में डॉक्टर ऑफ लेटर्स की मानद उपाधि से सम्मानित।

पुखराज जाँगिड़ आलोचक और अनुवादक हैं।
+9968636833
pukhrajjangid@yahoo.com

एक पत्रकार के रूप में महात्मा गाँधी को आप किस रूप में देखतें हैं?

महात्मा गाँधी के जीवन में पत्रकारिता का दायरा बहुत बड़ा हैं। उन्होंने अपने जीवन के उद्देश्यों को पूरा करने के लिए, उन्हें पूरी तरह से प्रसारित और प्रचारित करके के लिए, लोगों तक पहुँचने के लिए पत्रकारिता को एक माध्यम के रूप में अपनाया। गाँधी ने यह कहा भी है कि मेरा जीवन का जो ध्येय है, उसमें पत्रकारिता एक साधन के रूप में काम आयी। अपनी बात लोगों तक पहुँचाने के लिए गाँधी ने पहली बार पत्रकारिता का सहारा तब लिया था, जब वे इंग्लैंड में पढ़ाई कर रहे थे। वहाँ वे पढ़ाई के साथ-साथ भारत और भारतीय संस्कृति पर अपने विचारों को स्पष्टतापूर्वक रखते थे। जब वे इंग्लैंड से दक्षिण अफ्रीका गये तो वहाँ पहुँचकर उन्होंने वहाँ के गिरमिटिया हिन्दुस्तानियों की दुर्दशा देखते हुए एक अखबार की जरूरत को महसूस किया। उन्हें लगा कि यहाँ एक ऐसा अखबार शुरू किया जाना चाहिए जिसे सभी हिन्दुस्तानी पढ़ें। अपनी समस्याओं को समझे और अपने लिए एक रास्ता निकालें। अपनी इसी समझ के साथ उन्होंने 'इण्डियन ओपिनियन' अखबार निकालना शुरू किया।

उस दौर में एक गैर दक्षिणअफ्रीकी द्वारा दक्षिणअफ्रीका में हिन्दुस्तानियों के हित के लिए अखबार निकालना आसान काम तो कदाचित न था; उसकी अपनी व्यावहारिक दिक्कतें रही होंगी। ऐसे में गाँधीजी को वहाँ किन-किन दिक्कतों का सामना करना पड़ा? उन्होंने उसके लिए साधन और श्रम कैसे जुटाए?

गाँधीजी ने दक्षिणअफ्रीका में 'इण्डियन ओपिनियन' अखबार निकालना शुरू तो कर दिया; लेकिन उसके लिए साधन-सामग्री का प्रबन्धन वाकई आसान काम न था। गाँधीजी को लगा कि यह बड़ी जिम्मेदारी है। वहाँ के उनके मित्र उनकी थोड़ी-बहुत मदद भी करना चाहते थे, लेकिन गाँधीजी की स्पष्ट मान्यता थी कोई ऐसी व्यवस्था बनायी जाए, जिससे अखबार और अखबार से जुड़े लोगों की सामान्य जरूरतें भी पूरी हो जाएँ और अखबार का प्रकाशन भी बाधित न हो। बाद में उन्होंने दक्षिणअफ्रीका के डरबन में स्थित भारतीय बस्ती फोनिक्स में 'टॉलस्टॉय फॉर्म' शुरू किया। इसके लिए उन्होंने एक हजार बानवे सौ एकड़ जमीन खरीदी और 'फोनिक्स आश्रम' की स्थापना की, जिसका गाँधीजी के जीवन में बहुत बड़ा महत्त्व है। वहाँ रहते हुए उन्होंने रंगभेद के खिलाफ आन्दोलन चलाया था। वहीं से उन्होंने प्रेस वगैरह लगायी।

छपायी का काम शुरू किया। वहीं से पत्रिका निकलती थी। लेकिन धीरे-धीरे गाँधीजी ने यह महसूस किया कि पत्रकारिता का मूल काम विचारों को पहुँचाना है।

अपने अखबार में गाँधीजी समाचार और विचार में कैसे सामंजस्य बनाए रखते थे?

पत्रकारिता के दो हिस्से होते हैं। एक हिस्सा समाचार का होता है तो दूसरा हिस्सा विचार का होता है। उस समय की पश्चिम की पत्रकारिता को गाँधीजी ने बहुत करीब से देखा-परखा था। उसी समय भारत में जो पत्रकारिता चल रही थी, उसमें समाचार और विचार दोनों पक्ष काम कर रहे थे। गाँधीजी की पत्रकारिता में विचारों का बहुत महत्त्व है। विचारों को पहुँचाने के लिए ही उन्होंने अखबार चलाने का प्रयास किया। वे मानते थे कि जो विचार है, वही सत्य है। विचारों में एक अधिकार हो, एक सत्य हो, एक न्याय हो। इस रूप में गाँधीजी अपने ढंग के अनूठे विचारक कहलाये। गाँधीजी यह मानकर चलते थे कि आप दूसरे के विचारों से सहमत या असहमत हो सकते हैं, लेकिन अखबार में आपको तथ्यों और तर्कों के साथ विचार मिलने चाहिए। इसीलिए गाँधीजी ने कभी भी समाचारों की पत्रकारिता नहीं की, उन्होंने आजीवन विचारों की पत्रकारिता की। तत्कालीन अखबारों को देखते हुए उनका स्पष्ट मानना था कि समाचारों में तथ्य गलत होते हैं, आग्रहपूर्वग्रह होते हैं, इसलिए समाचारों का पूरी तरह से परीक्षण किए बिना उनको नहीं छापा जाना चाहिए।

गाँधीजी की पत्रकारिता का एक बड़ा हिस्सा पाठकों के साथ संवाद का रहा है। पाठकों के साथ की उनकी इस संवादधर्मिता को आप किस रूप में देखते हैं?

गाँधीजी की पत्रकारिता का एक महत्त्वपूर्ण भाग उनका अपने पाठकों के साथ संवाद था। उनके साप्ताहिकों का मूल आधार ही यह था कि वे अपने पाठकों से संवाद करें। वे नियमित रूप से अपने पाठकों से संवाद करते थे। गाँधीजी के पास आने वाले पाठकों के पत्रों में सिर्फ प्रशंसात्मक पत्र ही नहीं होते थे, बल्कि अक्सर उनमें पाठकों के विरोधात्मक पत्र भी शामिल होते थे। गाँधीजी उन पत्रों का उत्तर अपने पत्र में देते थे। इससे उनके पाठकों का दायरा बढ़ जाता था। अखबार के ग्राहक कम थे पर पाठक ज्यादा थे। उस समय अधिकांश लोग अखबार को मिल बाँट कर पढ़ते थे। इस तरह वे सामुदायिकता के पर्याय बनते जा रहे थे। अपने अखबार के माध्यम से गाँधीजी दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों की स्थिति पर बात कर रहे थे। उसमें वे वहाँ की सरकार की स्थिति पर बात कर रहे थे। उसमें वे संघर्ष कैसे करना है, इस पर बहस कर रहे थे।

गाँधीजी की पत्रकारिता लोक शिक्षण की पत्रकारिता है और उनका आग्रह सत्य का आग्रह है। 'सत्याग्रह' शब्द का जो व्यावहारिक प्रयोग गाँधीजी ने पत्रकारिता में किया, उसने पत्रकारिता के स्वरूप को खासा प्रभावित किया था। वे मानते थे कि पत्रकारिता में सिर्फ सत्य का प्रयोग होना चाहिए। उसमें सच्ची खबरें होनी चाहिए। सच्चे विचार आने चाहिए। विचार परस्पर विरोधी हो सकते है, लेकिन सत्य नहीं, सत्य के आग्रह के साथ कोई समझौता नहीं होना चाहिए।

दक्षिण अफ्रीका से प्रकाशित 'इण्डियन ओपिनियन' की गाँधीजी के व्यक्तित्व-निर्माण में क्या भूमिका रही?

गाँधीजी ने दक्षिण अफ्रीका में रहते हुए, सन् 1904 में 'इण्डियन ओपिनियन' अखबार शुरू किया और सन् 1915 तक बराबर उसे निकालते रहे। सन् 1915 में स्थायी रूप से भारत चले आने पर बाद में उसे उनके पुत्र मणिलाल ने उसे जारी रखा। गाँधीजी जब तक दक्षिणअफ्रीका में रहे, 'इण्डियन ओपिनियन' की पाठक संख्या अपने शिखर पर थी। वह साप्ताहिक अखबार था और वैचारिक रूप से बहुत सशक्त था। उसने दक्षिणअफ्रीका में रह रहे भारतीयों मजदूरों और कर्मचारियों को संघर्ष की ताकत दी। गाँधीजी का स्पष्ट मत था कि यह मत स्वीकारो कि तुम कमजोर हो। ऐसा करके तुम मजबूत बनोगे। 'इण्डियन ओपिनियन' ने भारतीयों को साहसी और संघर्षचेता बनाने का ऐतिहासिक काम किया। इस तरह 'इण्डियन ओपिनियन' और गाँधीजी एक-दूसरे के पर्याय से हो गये थे। वहाँ गाँधीजी का जीवन एक नया ही रूप ग्रहण कर रहा था। वह रूप था–सत्य का, न्याय का, संघर्ष का। गाँधीजी के व्यक्तित्व की इस नवीन निर्मिति में 'इण्डियन ओपिनियन' और उनकी पत्रकारिता बड़ी मदद कर रही थी।

गाँधीजी की पत्रकारिता अन्यों से अलग किस रूप में थी?

गाँधीजी पत्रकारिता के सहारे अपनी बातें और अपने विचार रख रहे थे। अपनी पत्रकारिता के माध्यम से वे दक्षिणअफ्रीका के अपने समर्थकों की, वहाँ के भारतीय मजदूरों और कर्मचारियों की, उनके संघर्ष की रूपरेखा निर्मित कर रहे थे। गाँधीजी का कहना था कि पत्रकारिता लाभ के लिए नहीं चलाई जा सकती। वह विचारों के लिए चलाई जा सकती है। एक ध्येय के लिए चलाई जा सकती है। लेकिन आर्थिक लाभ के लिए नहीं चलायी जानी चाहिए। गाँधीजी की पत्रकारिता उनके अपने जीवनदर्शन से संचालित है। उसका पथ गाँधीजी का पथ है। उस समय की पत्रकारिता विज्ञापनों के बल पर चल रही थी, जबकि गाँधीजी का मानना था कि बहुत कम विज्ञापन ऐसे होते हैं, जो प्रकाशित किये जा सकें। विज्ञापनों के लिए गाँधीजी के अपने मानदण्ड थे और जो विज्ञापन उनके नैतिक मानदण्ड पर खरे उतरते थे, वहीं 'इण्डियन ओपिनियन' या बाद में उनके अन्य अखबारों में जगह पा सके। गाँधीजी के विज्ञापन-विरोध का एक बड़ा कारण यह भी था कि उस समय के अखबारों में अश्लील ढंग के विज्ञापन भी चलाए जा रहे थे। विज्ञापनों के कारण भ्रामक प्रचार किया जा रहा था। विज्ञापनदाता अपने वैयक्तिक लाभ या प्रचार के लिए विज्ञापन का इस्तेमाल किया करते थे, प्रसारित किया करते थे। अधिकांश विज्ञापनों की स्थिति यही थी। अखबार अपने विज्ञापनों में या विज्ञापनों के माध्यम से झूठी सूचनाएँ दें या विज्ञापनदाताओं के लाभ के लिए सूचनाएँ बदले या प्रचारित करे, यह अनैतिकता गाँधीजी ने कभी नहीं की। विज्ञापनों की अपेक्षा गाँधीजी ने नया रास्ता यह निकाला कि पाठकों की संख्या को बढाओ। वे चाहते थे कि हमारे पाठक ही हमारे अखबार को चलाएँ।

गाँधीजी अपने पाठकों को अपने अखबार का स्वामी मानते थे। क्या ऐसा सम्भव है कि केवल पाठकों के दम पर अखबार निकाला जा सके?

गाँधीजी अपने अखबारों का स्वामित्व लोगों में बाँटते थे। यह उनके ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त के अनुरूप थी कि उनके अखबारों का मालिक कोई एक आदमी नहीं बल्कि वह सारे पाठकों की साझा सम्पत्ति है। गाँधीजी पाठकों की ओर से आने वाले सुझावों और

विचारों का सदैव स्वागत करते थे। पाठकों के सुझावों और विचारों पर वे सम्पादकीय लिखा करते थे। वे पाठकीय ट्रस्टिशिप से पत्रकारिता को चलाना चाहते थे। सन् 1915 में जब वे दक्षिणअफ्रीका से वापस भारत आये तो उनके बाद उनके बेटे मणिलाल गाँधी 'इण्डियन ओपिनियन' चला रहे थे। भारत में होने के बावजूद उनकी नजर 'इण्डियन ओपिनियन' पर लगी थी। मणिलाल गाँधी को लिखे अपने पत्रों में गाँधीजी उन्हें विज्ञापन वगैरह न लेने की सलाह देते हैं। इसका मतलब यह नहीं है कि वे विज्ञापनों के धुरविरोधी थे। देशा या समाज के हित में चलाए जाने वाले विज्ञापनों से उन्हें कोई दिक्कत नहीं है। गाँधीजी के भारत आ जाने के बाद 'इण्डियन ओपिनियन' की लोकप्रियता घट रही थी और अखबार बन्द होने की स्थिति में था। इन विकट परिस्थितियों के बावजूद गाँधीजी मणिलाल को पत्र लिख कर सावधान कर रहे थे। इससे एक बात तो स्पष्ट है कि पत्रकारिता के नैतिक मानदण्डों के प्रति गाँधीजी बहुत ईमानदार और सचेत थे। उन्होंने कुछ समय ही सही, लेकिन पाठकों के स्वामित्व में न केवल एक प्रगतिशील अखबार निकाला बल्कि उसे लम्बे समय तक जिन्दा भी रखा। दुनिया भर की पत्रकारिता के इतिहास में यह अपने ढंग का अनूठ प्रयोग था। गाँधीजी ने कभी नहीं कहा कि हम पत्रकार हैं। वे कहते थे कि पत्रकारिता की भूमिका हमारे उद्देश्यों की पूर्ति में एक बेहतर सहायक की है। इसी उद्देश्य से उन्होंने तमाम अखबारात निकाले थे। वे अपने अखबारों के सम्पादक थे और इस नाते हम उन्हें पत्रकार या सम्पादक मानते हैं, लेकिन व्यापक दृष्टि से देखा जाए तो गाँधीजी मूलतः एक आन्दोलनधर्मी राजनेता थे। पूरी मानवता के लिए वे बड़े व्यक्तित्व थे।

गाँधीजी चरित्रहनन वाली पत्रकारिता के खिलाफ थे, जबकि इसके बिना समकालीन पत्रकारिता की तो कल्पना ही नहीं की जा सकती। आप इसे किस रूप में देखते हैं?

गाँधीजी ने हमेशा पत्रकारिता को एक पवित्र पेशे के रूप ग्रहण किया। पत्रकारिता के लिए लोकजागरण और लोकसंवाद को अनिवार्य मानते थे। पत्रकारिता को वे अपने पाठकों, विश्वस्तों, प्रशंसकों से संवाद के बेहतर मंच या माध्यम के रूप देखने के पक्षधर थे। पत्रकारिता के इसी संवादी रूप के कारण वे उसे बहुत महत्त्वपूर्ण मानते थे। लेकिन गाँधीजी की पत्रकारिता पर उनके नैतिक मूल्यों का गहरा प्रभाव था, जो उन्हें अन्यों से अलग करता था। गाँधीवादी पत्रकारिता के मूल्य आज के दौर की पत्रकारिता के दलदलों से कहीं ऊपर थे। वे विज्ञापनों और समाचारों की पत्रकारिता को अलग करते हैं। फिर वे जबरन विवाद पैदा करने वाली पत्रकारिता के सख्त खिलाफ थे। वे निजता का बड़ा ख्याल रखते थे। एक बार विवाद छप जाए या सार्वजनिक हो जाए तो आप चाहकर भी उसके नकारात्मक प्रभाव से बच नहीं सकते। खुद गाँधीजी अपने व्यक्तिगत पत्रों के प्रकाशन से बड़े आहत थे। तथ्यों को तोड़-मरोड़कर पेश करने वाली और चरित्रहनन करने वाली पत्रकारिता के लिए ही उन्होंने कहा था कि अगर मैं तानाशाह होता तो सारे अखबार बन्द कर देता। उनका कहना यह था कि दो आदमियों के बीच की गोपनीय बातचीत का अखबार में आना अनैतिक है और अगर कोई अखबार यह अनैतिक काम करता है तो यह गलत है। यह काम गाँधीजी के नैतिकता के दायरे में फीट नहीं बैठता था। जबकि बाकियों की पत्रकारिता का दायरा वैयक्तिक बातों या छिपाए जा रहे तथ्यों को सामने लाने का था। जबकि अन्यों से इतर गाँधीजी की पत्रकारिता का दायरा अहिंसा में विश्वास, सत्य के आग्रह और मानवता के मूल्यों का था।

गाँधीजी पत्रकारिता को नैतिकता या नैतिक मूल्यों से जोड़कर देखते हैं। आप इसे किस रूप में देखते हैं?

गाँधीजी की पत्रकारिता का मूल मूल्य तो नैतिकता ही है। सत्य का आग्रह और असहयोग उनके दो बड़े हिस्से हैं। इसके क्रियान्वयन में उन्होंने पूरा सार्वजनिक जीवन जिया, संघर्ष किया। गाँधीजी नैतिकता के आग्रह को पत्रकारिता के मुख्य स्तम्भ के रूप में देखने के पक्षधर थे। पत्रकारिता किसी भी दृष्टि से नैतिक मूल्यों या मानदण्डों के खिलाफ नहीं हो सकती। अगर पत्रकारिता नैतिक मूल्यों या मानदण्डों के खिलाफ जाती है तो ये देश के हित में नहीं है। इसीलिए गाँधीजी की नजर में जहाँ कहीं भी देशहित में पत्रकारिता हो रही है, वहाँ नैतिकता बहुत जरूरी है। मूल रूप से यही उनकी अवधारणा थी। उदाहरण के लिए जब 'कल्याण' शुरू हुआ तो उसके सम्पादक गाँधीजी से सन्देश लेने के लिए पहुँचे। उन्होंने गाँधीजी को 'कल्याण' के उद्देश्य के बारे में बताते हुए कहा कि हम लोकहित में इसे शुरू कर रहें है और आप इसके लिए अपना शुभसन्देश दीजिए। इसके जबाव में गाँधीजी ने उनसे कहा कि आप अपनी पत्रिका में दो चीजें मत करना। पहला विज्ञापन मत छापना और दूसरा पुस्तक समीक्षा मत छापना। आप देखेंगे कि आज भी 'कल्याण' में ये दो चीजें नहीं छपती। यानी कोई विज्ञापन नहीं, कोई पुस्तक समीक्षा नहीं। क्योंकि उन्होंने गाँधीजी को ऐसा न करने का वचन दिया था। गाँधीजी की पत्रकारिता में इसी तरह की नैतिकता के आग्रह हैं। गाँधीजी कहते थे कि अखबारों में ये जो विज्ञापन छापने के प्रयास या विज्ञापन के आधार पर अखबार से पैसा कमाने के जो प्रयत्न शुरू हुए यह मूलतः पश्चिम की पत्रकारिता की नकल की वजह से हुआ है। पत्रकारिता का लाभ का प्राप्ति के माध्यम के रूप में देखने को वे अनैतिक मानते थे। इसी अनैतिक मूल्यों के कारण समाचार में मिलावट होती है, झूठे समाचार छापे जाते हैं, झूठे विज्ञापन छापे जाते हैं, नकली सर्कुलेशन दिखाया जाता है। जबकि गाँधीजी ने ऐसी पत्रकारिता को सिरे से नकार दिया था, लेकिन विडम्बना देखिए कि आज पूरी दुनिया में इसी को पत्रकारिता कहा जा रहा है। गाँधीजी की पत्रकारिता ऐसी नहीं थी। वह इससे बिलकुल अलग है। गाँधीजी की पत्रकारिता न केवल नैतिक मानदण्डों की बात करती है बल्कि उस पर खरी भी उतरती है। उनकी पत्रकारिता नैतिक मूल्यों वाली पत्रकारिता थी।

भारत में गाँधीवादी पत्रकारिता के विकास को आप किस रूप में देखते हैं?

भारत में पत्रकारिता के पेशे से जुड़े वे पत्रकार और सम्पादक, जो गाँधीजी के समय में उनके आदर्शों और नैतिक मानदण्डों से प्रभावित रहे, वे गाँधीवादी दौर के पत्रकार कहलाए और उनकी पत्रकारिता को गाँधीवादी पत्रकारिता कहा गया। जैसे–माखनलाल चर्तुवेदी गाँधीवादी पत्रकार हैं। उन्होंने गाँधीजी की पत्रकारिता के मूल्यों से प्रभावित होकर पत्रकारिता की। गाँधीजी से वैचारिक मतभेद रखते हुए भी लोग गाँधी के मूल्यों की

प्रशंसा करते थे। गणेशशंकर विद्यार्थी ऐसे ही महत्त्वपूर्ण गाँधीवादी पत्रकार थे। तो एक पूरा युग गाँधीवादी पत्रकारिता का युग रहा, जिन्होंने उस निर्णायक दौर में पत्रकारिता के माध्यम से आजादी की लड़ाई लड़ी और स्वाधीनता आन्दोलन को बल दिया। गाँधीवादी पत्रकारिता से प्रभावित पत्रकारों ने इसमें बहुत बड़ी भूमिका निभायी। हम कह सकते हैं कि गाँधीजी का गहरा प्रभाव उस दौर के सम्पादकों और उस दौर की पूरी पत्रकारिता पर था। उस दौर में स्वाधीनता आन्दोलन के लिए समर्पित ऐसे बहुतेरे सम्पादक और पत्रकार थे, जो खुद अखबार निकला करते थे। ऐसा वे पैसे कमाने के लिए नहीं करते थे। ऐसे ही पत्रकारों और सम्पादकों ने इस देश को आजादी का सपना दिया। गाँधीजी और उनके दौर के ऐसे तमाम पत्रकारों और सम्पादकों ने इसमें एक बड़ी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी और पूरे देश में आजादी का माहौल निर्मित किया। लेकिन उसी दौर में कुछेक लोग ऐसे भी थे, जो अखबार को लाभार्जन के लिए इस्तेमाल कर रहे थे। गाँधीजी पश्चिम के मूल्यों पर चल रही इस तरह की लाभार्जन वाली पत्रकारिता के के सख्त खिलाफ थे, क्योंकि यह संघर्ष करने वाली पत्रकारिता नहीं थी, बल्कि उस संघर्ष को कमजोर करने वाली पत्रकारिता थी। कुल मिलाकर हम कह सकते हैं कि गाँधीजी का अपने पूरे दौर में, चाहे वह दक्षिण अफ्रीका में रहें हो या भारत के स्वाधीनता आन्दोलन की लड़ाई में रहें हो, अपने नैतिक मूल्यों और पत्रकारिता के अपने मानदण्डों के कारण, अपने दौर के समाज पर उनका जबरदस्त प्रभाव था। उनके कहने से लाखों लोग जेल जाते थे। उनके कहने से सैकड़ों सम्पादक लेख लिखने लग जाते थे। गाँधीजी ने पूरे स्वाधीनता आन्दोलन को जागरूक और चेतन बना। इस जागरूकता और चेतनशीलता की जरूरत देश को आज भी है और इसीलिए आज भी हम गाँधीवादी पत्रकारिता की बात करते हैं और उसकी प्रासंगिकता की बात करते हैं।

भारत की भाषायी पत्रकारिता के विकास में गाँधीजी के योगदान को आप किस रूप में देखते हैं?

एक बात तो स्पष्ट है कि गाँधीजी के मन में अँग्रेजी के प्रति कोई रूचि नहीं थी। क्योंकि वे जानते थे कि अगर भारत में पत्रकारिता होनी है और अगर आपको भारतीय जनता से संवाद करना है तो आपको उनकी अपनी भाषा में लिखना होगा। दक्षिणअफ्रीका में रहते हुए जब वे 'इण्डियन ओपिनियन' निकाल रहे थे तो उन्होंने पहले उसे अँग्रेजी में निकाला, बाद में उन्होंने उसे हिन्दी, गुजराती व तमिल में भी निकाला। ऐसा करके उन्होंने जान-अनजाने ही भारतीय भाषाओं में पत्रकारिता की शुरूआत कर दी थी। इस तरह गाँधीजी के नेतृत्तव में भारतीय भाषाओं में पत्रकारिता की शुरूआत दक्षिण अफ्रिका से होती है। भारतीय भाषाओं में पत्रकारिता को लेकर गाँधीजी के विचार बहुत स्पष्ट थे। वे जानते थे कि अँग्रेजी को लाद कर भारतीय भाषाओं को उपेक्षित किया है। इसीलिए 'इण्डियन ओपिनियन' से लेकर के 'हरिजन' तक के तमाम अखबार उन्होंने अपनी मातृभाषा गुजराती में निकाले। दक्षिण अफ्रीका से भारत लौटने पर उनका पूरा आग्रह भारतीय भाषाओं में पत्रकारिता के विकास पर रहा। अँग्रेजी तो उनके लिए अपने विरोधियों (अँग्रेजों) से संवाद करने का एक माध्यम भर था।

जिस समय गाँधीजी पत्रकारिता कर रहे थे, उस समय के संकट के क्षणों में उनके कुछेक धनवान मित्र भी उनकी मदद किया करते थे। 'इण्डियन ओपिनियन' की नियमितता को बनाए रखने में रतन टाटा द्वारा भेजी गयी आर्थिक मदद का बड़ा योगदान रहा था। लेकिन गाँधीजी ने कभी भी परिस्थितियों से समझौता नहीं किया। पत्रकारिता से लाभ कमाने की कोई इच्छा नहीं थी। पत्रकारिता को वे नैतिक हथियार ही बना कर रखना चाहते थे। जनता से संवाद का एक ऐसा नैतिक हथियार, जो सत्ता के खिलाफ खड़ा हो सके। पत्रकारिता को वे इसी रूप में बनाए और बचाए रखना चाहते थे। वे चाहते थे कि अखबारों का, उनके समाचारों का प्रसार इतना बढ़े कि जनता का दबाव सरकार पर बनता रहे। ऐसे अखबारों के माध्यम से जनता जब चाहे, स्पष्टतापूर्वक अपने विचारों को रखें और सरकार के साथ बातचीत करें तथा दबाव बनाए रखे। अगर सरकार जनता पर कोई अत्याचार करना चाहती है तो जनता इन वैचारिक हथियारों से उसका सामना कर सकती है। अपने पक्ष में लोगों को एकजुट कर सकती है। पत्रकारिता के माध्यम से वे ऐसा ही एक चेतना सम्पन्न और जागरूक समाज बनाना चाहते थे। ऐसे करते हुए उन्होंने पत्रकारिता के अपने मानदण्डों के साथ कभी समझौता नहीं किया। उनकी इसी नैतिक दृढ़ता ने स्वतन्त्रता आन्दोलन के दौर में जो विचार दिये, उसे देशभर के पत्रकारों और सम्पादकों में राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए पूरा माहौल बनाया। इस तरह गाँधीजी और गाँधीजी की पत्रकारिता ने देश में स्वतन्त्रता को लक्ष्य तक पहुँचने में बहुत बड़ा योगदान दिया।

समकालीन परिदृश्य में आप पत्रकारिता के गाँधीवादी मूल्यों को किस तरह रेखांकित करेंगे?

आज हम देखते हैं कि सर्वत्र गाँधीवादी जीवनमूल्यों का क्षरण हो रहा है। खुद पत्रकारों के संस्कारों में गाँधीवादी पत्रकारिता के मूल्य नहीं हैं, लेकिन फिर भी कुछेक पत्रकार ऐसे हो सकते हैं, जिनके जीवन में गाँधीवादी पत्रकारिता के मूल्य हो। असल में पूरी दुनिया की पत्रकारिता में इतनी तेजी से गिरावट आयी है कि पूछिए मत। अब की पत्रकारिता मूल्यों से नहीं पूँजी से संचालित हो रही है। इसका सीधा प्रभाव भारतीय पत्रकारिता पर पड़ा। दूसरे शब्दों में कहूँ तो पूरी दुनिया की पत्रकारिता भारत की पत्रकारिता पर हावी हो गयी है। उसका भूमण्डलीकरण या वैश्वीकरण हो गया है। पत्रकारिता के मूल्य अलग हो गये हैं, ऐसे में उसमे गाँधीवादी मूल्यों के लिए जगह खोजना बहुत मुश्किल है। क्योंकि गाँधीजी की पत्रकारिता का मतलब है–मूल्यों की पत्रकारिता। यह मूल्य अब के अखबारों में बचे नहीं रहीं, बचना सम्भव भी नहीं है। लेकिन निराशा के इन क्षणों में भी दूर-दराज से हजारों छोटी-छोटी पत्रिकाएँ अभी निकल रही हैं। उम्मीद इन्हीं लघुपत्रिकाओं से हैं। ये पत्रिकाएँ बताती हैं कि गाँधीवादी विचारों या गाँधीवादी मूल्यों के लोग ही अभी भी हैं। ये पत्रिकाएँ और उनसे सम्बद्ध पत्रकार छोटे-छोटे क्षेत्रो में निडरतापूर्वक गम्भीर काम कर रहे हैं। तो उम्मीद अभी भी जिन्दा है।

(लिप्यंतरण–रितु कुमारी)

■

इण्डिया बनाम एनडीए वाया फूलपुर

शिवा शंकर पांडेय

उत्तर प्रदेश

देश के प्रथम प्रधानमन्त्री पंडित जवाहरलाल नेहरू फूलपुर लोकसभा सीट से तीन बार सांसद चुने गये। 1962 में डॉ. राम मनोहर लोहिया फूलपुर से चुनाव लड़े पर नेहरू से चुनाव हार गये। 1964 में नेहरू के निधन के बाद हुए उप चुनाव में उनकी बहन विजय लक्ष्मी पंडित ने चुनाव लड़ा। सांसद बनकर लोकसभा पहुँचीं। 1967 में लोहियावादी विचारधारा के नेता जनेश्वर मिश्र चुनाव लड़े पर विजय लक्ष्मी पंडित से पराजित हुए। 1971 में फूलपुर सीट से वीपी सिंह सांसद बनकर लोकसभा पहुँचे और वे देश के प्रधानमन्त्री भी बने।

लोकसभा चुनाव 2024 में होने वाला है। सो, राजनीतिक दलों ने अपनी तैयारी भी जोर-शोर से शुरू कर दी है। सत्ता की चाह ने सियासी कवायद तेज कर दी है। देश की राजनीति का गलियारा उत्तर प्रदेश से ही होकर गुजरता है। 80 संसदीय सीट वाला उत्तर प्रदेश, भारत का सबसे बड़ा राज्य है और राजनीति का केन्द्र बिन्दु इस बार भी बनने जा रहा है। स्वाभाविक तौर पर सत्ता हासिल करने की ख्वाहिश रखने वाले राजनेताओं की पहली पसन्द उत्तर प्रदेश ही होता है। चूँकि, नीतीश कुमार बड़े कद के नेता हैं। उनकी राजनीतिक महत्त्वाकांक्षा बड़ी है, पहले भी बड़ी रही है। सत्ता के इर्द-गिर्द ही ज्यादातर उनकी राजनीति सक्रिय रही है। एनडीए को सत्ता से बाहर करने को 26 दलों से तैयार गठबन्धन 'इण्डिया' में भी प्रमुख चेहरा रहे नीतीश कुमार का इस बार सक्रिय होना स्वाभाविक है। ऐसे में पंडित नेहरू और वीपी सिंह के रूप में देश को दो-दो प्रधानमन्त्री समेत डेढ़ दर्जन से ज्यादा चर्चित नेता देने वाली फूलपुर लोकसभा सीट पर बगल स्थित राज्य बिहार के मुख्यमन्त्री नीतीश कुमार का फूलपुर से चुनाव मैदान में उतरना कोई बड़ी बात नहीं है। जेडीयू के अध्यक्ष ललन कुमार ने एक निजी न्यूज चैनल को दिए इंटरव्यू में यह ऐलान किया कि नीतीश कुमार उत्तर प्रदेश की फूलपुर से लोकसभा चुनाव लड़ेंगे। उनके इस बयान के बाद सियासी हलचल मच गयी।

बहरहाल, मिशन 2024 का लक्ष्य सभी राजनीतिक दलों के सामने है। सियासी गुणा-भाग वाली गणित में प्रमुख दल अपनी अपनी रणनीति के साथ गोटी बिठाने में जुट गये हैं। ऐसे में महत्त्वपूर्ण यह है कि इस बार लोकसभा चुनाव में सत्ता और विपक्षी दलों के राजनीति की धुरी प्रयागराज की फूलपुर सीट होने जा रही है। 'सियासी-पंडितों' का मानना है कि अभी तक जो तस्वीर बन रही है अगर सब कुछ ठीक रहा तो उत्तर प्रदेश की फूलपुर लोकसभा सीट इस बार चुनाव में अहम भूमिका निभाने जा रही है। विपक्षी दलों के गठबन्धन इण्डिया के प्रमुख नेता व बिहार के मुख्यमन्त्री नीतीश कुमार के यूपी के फूलपुर संसदीय क्षेत्र से चुनाव लड़ने की बात सामने आने के बाद राजनीतिक हलचल कुछ ज्यादा तेज हो गयी है। उधर, नीतीश कुमार के इस ऐलान के एक हफ्ते बाद ही प्रयागराज आए उत्तर प्रदेश के उप मुख्यमन्त्री केशव प्रसाद मौर्य ने भी फूलपुर से संसदीय चुनाव लडने के संकेत दे दिए। कद्दावर नेता के रूप में पहचान रखने वाले केशव मौर्य का प्रयागराज अचानक सक्रिय होना फूलपुर से संसदीय चुनाव का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा माना जा रहा है। एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह भी कि 'इण्डिया' के हिस्सा रहे नीतीश कुमार की गिनती प्रमुख नेताओं में होती है तो केशव प्रसाद मौर्य का भी राजनीतिक ग्राफ मजबूत माना जाता है। पिछले दिनों की अपेक्षा केशव

लेखक कई प्रतिष्ठित अखबारों में कार्य कर चुके वरिष्ठ पत्रकार हैं
+918840338705
shivas_pandey@rediffmail.com

मौर्य का प्रयागराज जिले का दौरा कुछ ज्यादा ही हुआ है। इनकी इस सक्रियता के भी कई निहितार्थ निकाले जा रहे हैं। भाजपा के शीर्षस्थ नेताओं में केशव मौर्य की मजबूत पकड़ का अन्दाजा इसी से लगाया जा सकता है कि सिराथू में विधानसभा चुनाव हार जाने के बाद भी राज्य में उप मुख्यमन्त्री के पद पर केशव मौर्य विराजमान हैं। इसके पहले भी, सांसद रहे केशव मौर्य को इस्तीफा दिलाकर उत्तर प्रदेश की राजनीति में शिफ्ट कर प्रदेश अध्यक्ष की सांगठनिक कमान सौंपी गयी थी। प्रदेश अध्यक्ष के रूप में इनका कार्यकाल उपलब्धियों भरा माना गया। इसके कुछ महीने बाद ही श्री मौर्य को उप मुख्यमन्त्री बनाकर मुख्यमन्त्री योगी आदित्यनाथ को मजबूत सहयोगी दिया गया। बतौर उप मुख्यमन्त्री केशव प्रसाद मौर्य उप मुख्यमन्त्री रहे दिनेश शर्मा और मौजूदा एक और उप मुख्यमन्त्री बृजेश पाठक से ज्यादा तेज तर्रार साबित हुए हैं। फूलपुर लोकसभा सीट से केशव मौर्य की दावेदारी के पीछे भाजपा कार्यकर्ताओं में एक और तर्क दिया जा रहा है। फूलपुर लोकसभा सीट से पहला भाजपा सांसद होने का गौरव भी केशव मौर्य को हासिल है। वर्ष 2014 के पहले फूलपुर लोकसभा सीट से भाजपा का कभी खाता नहीं खुला। इतनी महत्त्वपूर्ण सीट होने के बावजूद यहाँ से लगातार गैर भाजपायी सांसद चुने जाते रहे। अभी तक कुल दो बार भाजपा यहाँ से चुनाव जीत सकी है। वर्ष 2014 में केशव प्रसाद मौर्य पहले तो पिछली बार केशरी देवी पटेल फूलपुर से सांसद बनीं। केशरी देवी यहाँ की मौजूदा सांसद हैं। इस बार ज्यादा उम्र वाला फैक्टर लागू होने के चलते केशरी देवी पटेल का टिकट कटना लगभग तय माना जा रहा है। बहरहाल, पहली बार केशव मौर्य ने 2014 में रिकार्ड वोटों से यहाँ जीत हासिल की पर राज्य की राजनीति में बतौर उप मुख्यमन्त्री के तौर पर सक्रिय होने के चलते इन्हें सांसद पद से इस्तीफा देना पड़ा। हालाँकि बाद में हुए उप चुनाव में भाजपा यहाँ से फिर पराजित हो गयी। सपा के प्रत्याशी रहे नागेंद्र सिंह पटेल ने भाजपा के प्रत्याशी कौशलेंद्र पटेल को पराजित किया। केशरी देवी पटेल यहाँ की सांसद हैं। मोदी लहर में बसपा से भाजपा में शामिल होने वाली उम्रदराज महिला केशरी देवी पटेल फूलपुर लोकसभा सीट का प्रतिनिधित्व कर रही हैं।

गौरतलब है कि फूलपुर कुर्मी बिरादरी बाहुल्य क्षेत्र है। सवा तीन लाख कुर्मी बिरादरी के वोटर यहाँ निर्णायक भूमिका में हैं। नीतीश कुमार खुद कुर्मी बिरादरी से आते हैं। अब तक यहाँ से आठ सांसद कुर्मी बिरादरी के चुने गये हैं। प्रधानमन्त्री नरेन्द्र मोदी की लोकसभा सीट वाराणसी के प्रभारी रह चुके पूर्व विधायक प्रभाशंकर पाण्डेय कहते हैं कि महज कुर्मी बिरादरी का होना ही जीत का मानक नहीं, इसी चक्कर में कई कुर्मी बिरादरी के नेता फूलपुर सीट से चुनाव लड़ने आए, उन्हें पराजय का मुँह देखना पड़ा। श्री पाण्डेय 2014 में केशव मौर्य के फूलपुर सीट से चुनाव लड़ने के दौरान चुनाव प्रभारी भी रहे हैं।

प्रधानमन्त्री नरेन्द्र मोदी की लोकसभा सीट वाराणसी के प्रभारी रह चुके पूर्व विधायक प्रभाशंकर पाण्डेय कहते हैं कि महज कुर्मी बिरादरी का होना ही जीत का मानक नहीं, इसी चक्कर में कई कुर्मी बिरादरी के नेता फूलपुर सीट से चुनाव लड़ने आए, उन्हें पराजय का मुँह देखना पड़ा।

क्यों है फूलपुर खास?

देश की राजनीति में खास महत्त्व रखने वाला 80 संसदीय सीट वाला उत्तर प्रदेश राज्य है। पूर्वांचल से लेकर पश्चिमी यूपी की राजनीति का केन्द्र बिन्दु प्रयागराज है। प्रयागराज में स्थित है फूलपुर संसदीय सीट। देश के प्रथम प्रधानमन्त्री पंडित जवाहरलाल नेहरू फूलपुर लोकसभा सीट से प्रथम सांसद चुने गये। इसके बाद पंडित नेहरू यहाँ से लगातार तीन बार सांसद चुने जाते रहे। 1962 में डॉ. राम मनोहर लोहिया फूलपुर से चुनाव लड़े पर नेहरू से चुनाव हार गये। 1964 में नेहरू के निधन के बाद हुए उप चुनाव में उनकी बहन विजय लक्ष्मी पंडित ने चुनाव लड़ा। सांसद बनकर लोकसभा पहुँचीं। 1967 में समाजवादी नेता जनेश्वर मिश्र चुनाव लड़े पर विजय लक्ष्मी पंडित से पराजित हो गये। 1971 में फूलपुर सीट से वीपी सिंह सांसद बनकर लोकसभा पहुँचे और वे देश के प्रधानमन्त्री भी बने। राज्य के मुख्यमन्त्री रहे हेमवती नन्दन बहुगुणा की पत्नी कमला बहुगुणा 1977 में यहाँ से सांसद चुनी गयीं। चर्चित माफिया रहे अतीक अहमद सपा से तो बसपा से कपिलमुनि करवरिया भी यहाँ से सांसद चुने जा चुके हैं।

धर्मगुरु करपात्री जी महराज हिन्दू महासभा से चुनाव लड़ चुके हैं। छोटे लोहिया के नाम से विख्यात जनेश्वर मिश्र की भी कर्मभूमि फूलपुर रही है। 1996 में बसपा के संस्थापक मुखिया कांशीराम यहाँ से चुनाव लड़े पर कुर्मी बिरादरी के सामान्य कद के नेता से चुनाव हार गये। चन्द्रजीत यादव और अपना दल के संस्थापक मुखिया सोनेलाल पटेल भी यहाँ से चुनाव लड़े पर हार गये। कुर्मी बिरादरी के रामपूजन पटेल यहाँ से तीन बार सांसद रहे।

पिछले आँकड़ों पर गौर करें तो फूलपुर लोकसभा सीट पर 16 चुनाव और तीन उप चुनाव हो चुके हैं। 1951 से 1967 तक लगातार पाँच बार काँग्रेस जीती। 1971 और 1984 के चुनाव में भी काँग्रेस को ही जीत मिली। 1969 में हुए चुनाव में सोशलिस्ट पार्टी को जीत मिली। जब कि 1977 में भारतीय लोकदल, 1980 में जनता दल सेक्युलर ने जीत दर्ज की है।वर्ष 1989 और 1991 में लगातार दो बार जनता दल के प्रत्याशी यहाँ से जीते। तर्क दिया जा रहा है कि फूलपुर पूर्वांचल की प्रमुख सीट है। यहाँ से पूर्वांचल को साधा जा सकता है। फूलपुर के बगल ही भाजपा के प्रमुख नेता नरेन्द्र मोदी की संसदीय सीट वाराणसी है, और वाराणसी का आखिरी छोर बिहार राज्य में मिलता है। फूलपुर सीट के जरिए पूर्वांचल की करीब पच्चीस प्रमुख सीट, मोदी–योगी की सीट समेत बिहार राज्य को भी साधने की रणनीति है। बहरहाल, देश के तमाम दिग्गज नेताओं की राजनीतिक कर्मभूमि रही फूलपुर लोकसभा सीट इस बार चुनावी मिशन 2024 की धुरी बनने जा रही है। ■

आदिवासी राजनीति की पिच पर भाजपा

विवेक आर्यन

झारखण्ड

सम्भव है कि भाजपा झामुमो को एनडीए में शामिल होने के लिए दबाव बनाए, जिसकी भूमिका ईडी और अन्य एजेंसियों के माध्यम से बनायी जा रही है। लेकिन हेमन्त जब आदिवासी नेतृत्व का बड़ा चेहरा बनकर राष्ट्रीय स्तर पर उभर रहे हैं, ऐसे में भाजपा के साथ जाकर अपना कद छोटा करना शायद उन्हें गँवारा न हो। लेकिन यह इस पर निर्भर करता है कि काँग्रेस किस हद तक झामुमो का साथ दे सकेगी।

झारखण्ड के इकलौते गैर आदिवासी पूर्व मुख्यमन्त्री रघुवर दास को उड़ीसा का राज्यपाल बनाया जाना झारखण्ड भाजपा में बड़ा फेर बदल तो है ही, यह झारखण्ड में भाजपा राजनीति के दूरदर्शी आयामों को भी तय करेगा। हालाँकि रघुवर ने राज्यपाल बनाए जाने के फैसले का स्वागत किया है, कहा कि उनके लिए इससे खुशी की बात कुछ और नहीं हो सकती, लेकिन राजनीति के खेल में उनके साथ खेला हो गया है। राज्यपाल जैसे सम्मानजनक पद का इस्तेमाल कई बार किसी को सक्रिय राजनीति से दूर रखने के लिए भी किया जाता है। रघुवर दास भी झारखण्ड की राजनीति से फिलहाल दूर कर दिए गये हैं, ताकि झारखण्ड की गतिविधियों में उनका दखल न के बराबर रहे।

रघुवर के राज्यपाल बनाए जाने को झारखण्ड भाजपा में हाल में हुए बड़े बदलावों से जोड़ कर देखे जाने की जरूरत है। भाजपा विधायक दल के नेता बाबूलाल मरांडी को प्रदेश अध्यक्ष की जिम्मेवारी दी जाने के साथ ही यह साफ हो गया था कि पार्टी बाबूलाल के नेतृत्व में ही झारखण्ड में लोकसभा और विधानसभा का चुनाव लड़ेगी। निश्चित तौर पर राज्य में मुख्यमन्त्री का चेहरा भी बाबूलाल ही होंगे। लेकिन राष्ट्रीय उपाध्यक्ष रघुवर दास का दखल व उनका प्रभाव बाबूलाल के अनुरूप नहीं होने पर नेतृत्व टकराव की स्थिति पैदा हो सकती थी। इसलिए रघुवर दास को ऐसी सम्मानजनक जिम्मेवारी दी गयी, जिससे उनकी गरिमा भी बनी रहे और वे सक्रिय राजनीति से दूर भी रहें। शायद इसलिए भी प्रधानमन्त्री मोदी ने उन्हें फोन कर व्यक्तिगत रूप से बधाई दी।

रघुवर दास के 5 सालों का कार्यकाल बेहद अच्छा रहा था। विकास कार्य से लेकर अन्य लगभग सभी मुद्दों पर सरकार ने बेहतर प्रदर्शन किया था। कोई बड़ा विवाद भी नहीं हुआ, जिस कारण सरकार ने बड़ी ही सुगमता से अपने पाँच साल पूरे किये। लेकिन एंटी इन्कमबेंसी और कई अन्य कारणों से पार्टी दोबारा सरकार में नहीं आ पायी, जिसका ठीकरा स्वाभाविक तौर पर रघुवर दास के सिर पर फूटा। इससे भी बुरा यह हुआ कि रघुवर अपनी ही सीट नहीं बचा सके। उनके राजनीतिक करियर में यह सबसे बड़ी क्षति थी। अब भाजपा को किसी ऐसे व्यक्ति की जरूरत थी, जो न सिर्फ विपक्ष का चेहरा बन सके, बल्कि आगे की राजनीति में पार्टी का नेतृत्व भी कर सके। इसलिए परिणाम के ठीक बाद ही बाबूलाल भाजपा में शामिल हो गये। हालाँकि यह उस समय ही साफ हो गया था कि बाबूलाल ही झारखण्ड भाजपा के सर्वे-सर्वा होंगे, लेकिन रघुवर दास को उड़ीसा भेजे जाने के बाद बाबूलाल को पार्टी में एकाधिकार मिल गया है।

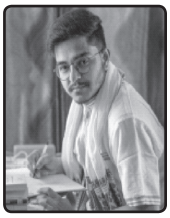

लेखक पेशे से पत्रकार और पत्रकारिता के शिक्षक हैं।
+919162455346
aryan.vivek97@gmail.com

भाजपा ने हाल में नयी जिम्मेवारियों में जातीय समीकरण का ध्यान रखा है। आदिवासी नेता को प्रदेश अध्यक्ष के अलावा दलित नेता अमर बाउरी को नेता प्रतिपक्ष और ओबीसी नेता जेपी पटेल को मुख्य सचेतक बनाया गया है। गौर करने वाली बात है कि झारखण्ड में ओबीसी 46 प्रतिशत, दलित 12 प्रतिशत और आदिवासी लगभग 27 प्रतिशत हैं। इस हिसाब से प्रदेश में नेतृत्व की जिम्मेवारी में सभी वर्गों का खयाल रखा गया है। हालाँकि यह पूरी तरह से तब स्पष्ट हो सकेगा, जब बाबूलाल कार्यसमिति का गठन करेंगे। देखना यह भी दिलचस्प होगा कि इस कार्यसमिति में रघुवर के करीबी कितने नेताओं को स्थान मिलता है, या किस गुट के कितनों को क्या जिम्मेदारी दी जाती है।

भाजपा के अन्दरखाने भी इस फेर बदल से कुछ लोग अति प्रसन्न और कुछ नाराज हैं। जाहिर है, जिनकी नजदीकियाँ रघुवर से रही हैं, उन्हें पार्टी में साइडलाइन किए जाने का डर भी है। सम्भव है कि टिकट बँटवारे के दौरान यह नाराजगी और खुलकर सामने आए। लेकिन भाजपा के पास बाबूलाल पर पूर्ण भरोसे के अलावा दूसरा कोई विकल्प भी नहीं था।

झारखण्ड से रघुवर की राजनीतिक विदाई की दूसरी सुई सरयू राय पर जाकर अटकती है। सर्व विदित है कि सरयू राय रघुवर दास के कारण पार्टी से अलग हुए थे, दोनों की व्यक्तिगत प्रतिद्वन्द्विता है। अब सरयू राय के लिए भाजपा में वापसी का रास्ता खुल चुका है। सरयू राय की ईमानदार छवि, गम्भीर व्यक्तित्व और रणनीतिक कौशल की जरूरत भाजपा को तो है ही, सरयू को भी अपनी महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए पार्टी के सहारे की जरूरत है। और फिर सरयू को भाजपा से कोई शिकायत भी नहीं रही है। हालाँकि अब तक सरयू राय की तरफ से इसपर कुछ कहा नहीं गया है।

हाल के दिनों में झारखण्ड में भाजपा की राजनीति भी साफ हो गयी है। भाजपा आदिवासियों को केन्द्र में रखकर ही अपनी रणनीति बना रही है। किसी भी राजनीतिक रैली या कार्यक्रम में धरती आबा बिरसा मुंडा, सिदो-कानू, वीर बुधु भगत, जतरा टाना भगत, पोटो हो आदि का नाम लिए बगैर कोई सम्बोधन नहीं होता। केन्द्र सरकार ने बिरसा मुंडा डॉ. की जयन्ती को जनजातीय गौरव दिवस के रूप में घोषित कर दिया है। द्रौपदी मुर्मू को देश की पहली आदिवासी राष्ट्रपति बनाना भी इसी प्रयास में एक कदम है।

दूसरी महत्त्वपूर्ण बात है कि उत्तर के अन्य राज्यों की तरह झारखण्ड में हिन्दू-मुस्लिम का मुद्दा प्रभावी नहीं है। यहाँ आदिवासियों की बड़ी आबादी (जिनमें क्रिश्चन भी शामिल हैं) होने के कारण हिन्दुत्व की राजनीति फेल हो जाती है। झारखण्ड में किसी भी पार्टी के लिए आदिवासी हितों की बात करना मजबूरी की तरह है। इसकी एक प्रमुख वजह है कि अन्य समुदायों की तरह आदिवासी वोट बिखरे नहीं हैं, उन्हें मुद्दों के आधार पर गोलबन्द किया जा सकता है। यानी 27 प्रतिशत की आबादी को आप एक यूनिट मान सकते हैं। सत्ताधारी पार्टी झामुमो यह करने में सफल रही है, जिसका सुखद परिणाम हमारे सामने है। भाजपा यह बात जानती है और इसलिए आदिवासी चेहरा के तौर पर बाबूलाल को पुनर्स्थापित करने के लिए महँगे दाँव खेलने को तैयार है।

हालाँकि झारखण्ड में आदिवासी केन्द्रित राजनीति का पिच दरअसल हेमन्त सोरेन का तैयार किया हुआ है, जिसपर भाजपा को मजबूरन आकर बैटिंग करनी पड़ रही है, जबकि आम तौर पर ऐसा होता नहीं है। हाल के दिनों में हेमन्त सोरेन ने आदिवासी केन्द्रित कई मुद्दों को हवा दी, जिसका भाजपा न तो खुलकर समर्थन कर पायी, न ही विरोध। मसलन सरना धर्म कोड और 1932 खतियान आधारित स्थानीय नीति। कथित तौर पर कई बार झामुमो-काँग्रेस-राजद गठबन्धन की सरकार गिराने के भी कई प्रयास हुए हैं, जिसे हेमन्त ने बड़ी सूझबूझ के साथ विफल कर दिया।

झारखण्ड भाजपा ने राज्य में अपनी राजनीति को लेकर भले ही नीयत साफ कर दी हो, लेकिन बाबूलाल के लिए यह सफर आसान नहीं होगा। 14 साल भाजपा से अलग होने और फिर वापस आने से उन्होंने जनता के बीच अपनी सांख गँवायी है। इसका प्रमाण राज्य में हुए 5 उपचुनाव हैं, जिनमें से 4 में भाजपा को हार का सामना करना पड़ा। रामगढ़ चूँकि आजसू का गढ़ रहा है, एनडीए की जीत सम्भव हो पायी। भले ही इन उपचुनावों के दौरान प्रदेश का नेतृत्व दीपक प्रकाश के हाथ था, लेकिन बाबूलाल भी पूरे दमखम के साथ लगे थे। जाहिर है, इस बीच हेमन्त की छवि काफी बदली है, जिससे झामुमो को अप्रत्याशित मजबूती मिली है। और यह कहने में कोई गुरेज नहीं है कि हाल के परिदृष्य में हेमन्त बाबूलाल से कहीं लोकप्रिय और बड़े कद के नेता बनकर उभरे हैं।

इधर बाबूलाल ने सरकार पर आरोप लगाते हुए जितने भी आन्दोलन चलाए, उनमें से किसी को भी अंजाम तक पहुँचाने में सफल नहीं रहे, फिर चाहे वह भ्रष्टाचार के आरोप हों, बालू और पत्थर के अवैध खनन का मामला हो या फिर बेरोजगारी आदि मसले। सवाल तो यह भी है कि रघुवर दास के जाने से नाराज संगठन के एक धड़े को जोड़ कर बाबूलाल वह कौन सी रणनीति अपनाएँगे, जिससे वे भाजपा को सत्ता में वापस लाने में कामयाब हो सकें।

सम्भव है कि भाजपा झामुमो को एनडीए में शामिल होने के लिए दबाव बनाए, जिसकी भूमिका ईडी और अन्य एजेंसियों के माध्यम से बनायी जा रही है। लेकिन हेमन्त जब आदिवासी नेतृत्व का बड़ा चेहरा बनकर राष्ट्रीय स्तर पर उभर रहे हैं, ऐसे में भाजपा के साथ जाकर अपना कद छोटा करना शायद उन्हें गँवारा न हो। लेकिन यह इसपर निर्भर करता है कि काँग्रेस किस हद तक झामुमो का साथ दे सकेगी। विधानसभा चुनाव के पहले सम्भव है कि राज्य में विभिन्न पार्टियों में और भी बदलाव देखने को मिले। बहरहाल सभी का फोकस 2024 के लोकसभा चुनाव पर है, जिसकी 14 में से 12 सीटें वर्तमान में एनडीए के पास है। बाबूलाल के नेतृत्व में भाजपा इन सभी सीटों को अपने पास रखना चाहेगी। यही भाजपा के नये नेतृत्व की पहली परीक्षा होगी।

■

चतुर्दिक

परसाई को सुनें

रविभूषण

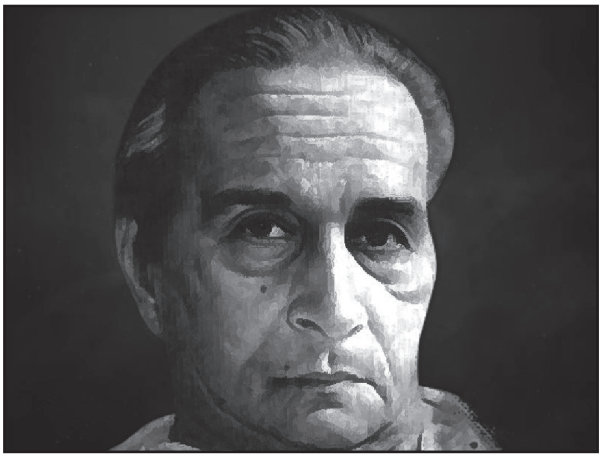

● इस ब्राह्मण ने समाज के बड़े हिस्से को शूद्र बना कर, अछूत बना कर, शिक्षा-संस्कृति में वंचित करके जो पाप किया, उसका फल वह अभी भी भोग रहा है। शारीरिक श्रम नहीं करने से और कोई उत्पादन नहीं करने से ब्राह्मण पूज्य से घटकर दीन, भिखमंगा हो गया... ब्राह्मण दरिद्र, दीन और निकम्मा हो गया। यह मनु महाराज की कृपा है। इस देश की दुर्गति करने वाले दो महामनीषी हैं—वर्ण-व्यवस्था स्थापित करने वाले मनु और जगत को मिथ्या बताने वाले शंकराचार्य।

हरिशंकर परसाई (22.8.1924-10.8.1995) के जन्मशती वर्ष में हम याद रखें कि परसाई का सम्पूर्ण लेखन राजनीतिक है। उनके लेखन से स्वतन्त्र भारत के लगभग पचास वर्ष (1947-1995) का हम सम्पूर्ण चित्र देखते हैं। आज अगर वे जीवित होते, तो जबलपुर के अपने घर में न होकर जेल में होते और उन्हें जमानत भी नहीं मिलती। वे राष्ट्रद्रोही, अर्बन नक्सल और माओवादी घोषित किये जाते। पहले की तरह शायद ही हिन्दी का कोई अखबार उनका स्तम्भ-लेख प्रकाशित करता। उनके समय में केन्द्र में भाजपा की सरकार नहीं थी और न आज की तरह देश को हिन्दू राष्ट्र बनाने की साजिश। फिर भी उन्होंने पचासों बार हिन्दू राष्ट्र की बात कही है। खतरे उन्होंने देख लिए थे। अभी तक मुकम्मल रूप से उन पर विचार नहीं किया गया है। विश्वनाथ त्रिपाठी ने अपनी पुस्तक 'देश के इस दौर में' में उनके राजनीतिक लेखन पर विचार नहीं किया है। स्वाधीन भारत के पचास वर्ष की राजनीति परसाई के यहाँ जिस तरह है, किसी भी समाजशास्त्री या राजनीतिशास्त्री के यहाँ नहीं है। इस समय उनके कुछ उद्धरणों, विचारों को देखने-समझने की जरूरत है—

● पण्डित नेहरू ने 1948 में घोषणा की थी—मुनाफाखोर को बिजली के खम्भे से लटका दिया जाएगा। पर हर बिजली के खम्भे के पास एक मुनाफाखोर फूलता-फलता है, वह लटकाया नहीं जाता। पूरी व्यवस्था पर बेईमानों का कब्जा है, वे बेईमान एक-दूसरे की रक्षा करते हैं। कौन किसे पकड़े और सजा दिलवाये? जनता का गुस्सा जब सीमा से बाहर हो जाएगा तब जरूर वह मनुष्य-विरोधियों को खम्भे से लटकाएगी।

● अमेरिका के आधिपत्य वाले अन्तरराष्ट्रीय आर्थिक संगठनों के जाल में जरूर हम फँसते चले जा रहे हैं। इसका प्रभाव पड़ रहा है। फिर एक सांस्कृतिक साम्राज्यवाद भारत में पनप रहा है। अमेरिका नव स्वतन्त्र देशों में कठपुतली सरकारें स्थापित करता है। कर्ज, सैनिक सामग्री, तकनीक आदि से उसे अपने ऊपर निर्भर रखता है। इसके लिए अमेरिका लोकतन्त्र का नाश करके वहाँ तानाशाही सरकारें बिठाता है। तानाशाह को लोक समर्थन नहीं होता, इसलिए वह पूरी तरह अमेरिका पर निर्भर रहता है। मुझे भारत में ऐसी सम्भावना नहीं दिखती। मगर एक असम्भव सम्भव हो जाय—यानी भारतीय जनता पार्टी की सरकार दिल्ली में बन जाय, तब क्या होगा, कह नहीं सकते।

● अब नया साम्राज्यवाद अमेरिकी साम्राज्यवाद है। यह दूसरी तरह का है। बहुत उदार है। तुम्हें कुल इतना करना है कि जैसी सरकार अमेरिका चाहे अपने यहाँ रखो। डालर लो। फौजी सामान लो। अनाज लो। बना-बनाया सामान लो। चैन से रहो। बस, कुल इतना करो कि अपनी आन्तरिक और विदेश नीति अमेरिका को सौंप दो। अर्थव्यवस्था

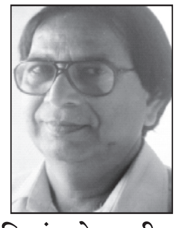

लेखक जन संस्कृति मंच के राष्ट्रीय अध्यक्ष हैं।
+919431103960
ravibhushan1408@gmail.com

बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ देख लेंगी। अपने देश में अमेरिकी फौजी अड्डे बनाने दो। अपनी स्वाधीनता अमेरिका को सौंप दो और बरी हो जाओ..... अमेरिका इन सौ देशों को उठने नहीं देगा। वह गिरायेगा। इन्दिरा जी सही कहती हैं कि इन सैकड़ों देशों को अपनी स्वतन्त्र सामूहिक अर्थ-व्यवस्था बनानी चाहिए। ऐसा न किया तो कोई देश आजाद नहीं रहेगा।

● साम्राज्यवादी हर चीज का इस्तेमाल करता है, चाहे वह मच्छर हो चाहे मजहब! जोमो केन्याता कहते थे—अफ्रीका में पादरी आये, तब उनके हाथ में बाइबिल थी और हमारे हाथ में जमीन। पादरियों ने हमें प्रभु की प्रार्थना करना सिखाया। हम आँखें बन्द करके प्रार्थना करने लगे। जब हमने खोली तो पाया हमारे हाथ में बाइबिल है और उनके हाथ में जमीन। गोरी जाति ने हम पर राज किया। हम गोरी जाति के गुलाम रहे। हम गोरों के साम्राज्यवाद से लड़े और उन्हें यहाँ से भगाया। मगर भारतीयों का एक वर्ग गोरों को देवता मानता है, आदर्श मानता है, रहन-सहन, पोशाक में उसकी नकल करता है। ये भारतीय नहीं जानते कि सोलहवीं शताब्दी में जब अँग्रेज आए तब भारतीय उनसे ज्यादा सभ्य थे।

● हरामखोरी की कमाई वाले, दो नम्बरी ठेकेदार और अफसर, अधकचरे सम्पन्न बुद्धिजीवी, रातों रात धनवान हुए उच्च मध्यवर्गीय लोगों ने आधुनिकता सिर्फ पश्चिमी यूरोप तथा अमेरिका की पतनशीलता को समझा और उनकी विकृतियाँ ग्रहण कीं तथा दिखाऊ पश्चिमी मैन से ले लिए। यह वर्ग अपनी संस्कृति से उखड़ चुका। यह सांस्कृतिक विद्रूप हो चुका। मम-डैड कहलानेवाला, हैव ए ड्रिंक वाला, छुरी काँटा गलत पकड़ने वाला, डिस्को पर मटकने वाला यह वर्ग पशु-स्तर पर जीने लगा है। इसका अमानवीकरण हो चुका। यह आदमी अकेले जितना भोग सके, भोगता है, जैसे चीता अकेले जितना बकरा खा सके, खा लेता है। न चीते की संस्कृति, न इस मनुष्य के फूहड़ वर्ग की।

● संतों की भीड़ नहीं हुआ करती, अगर भीड़ थी तो तीन-चौथाई लुच्चे होंगे। यह लुच्चन की भीड़ हो गयी। दिन-भर तुलसीदास के हाथ चन्दन घिसते-घिसते दुखने लगे होंगे और रघुवीर अधिकांश लुच्चों को तिलक करते रहे.... चुनाव के पर्व पर बड़े नेता ऐसों को ही तिलक करते हैं और चन्दन गरीबों से घिसवाते हैं।

● लेखकों से बात करना मेरे लिए कठिन है। वे कविता, कहानी की ही बात करते हैं या निन्दा। इस देश की हालात, दुनिया की हालात, देश-विदेश का घटना-चक्र, राजनीति, सामाजिक स्थिति आदि पर इनसे बात नहीं की जा सकती। ये विषय इनके दायरे से बाहर होते हैं। जिस रेडियो को झूठा बनाने के लिए इन्दिरा गाँधी को इमरजेंसी लगानी पड़ी, उसे आडवाणी ने बिना इमरजेंसी के लोकतान्त्रिक तरीके से झूठा बना दिया। यह कोई कम उपलब्धि नहीं है। उन्होंने यह सिद्ध कर दिया है कि लोकतान्त्रिक तरीके से भी देश का विकास हो सकता है।

● आडवाणी जी, आप पर आरोप लगाए जा रहे हैं कि आप रेडियो का उपयोग आर.एस.एस. के प्रचार के लिए करते हैं, कि आप रेडियो पर झूठ बहुत बुलवाते हैं। पर मुझे आप उतने ही सही लगते हैं, जितना वह तिराहे का गुमटी दुकानदार, जो चाय में घोड़े की लीद बनाकर बेचता है।

● क्या तुम्हें यह पता नहीं है कि हिन्दू राष्ट्र का आधार झूठ है। अगर तुम्हारी झूठ के प्रति निष्ठा नहीं है, तो तुम क्या निर्माण करोगे हिन्दू राष्ट्र का। तुम्हारा 'बौद्धिक' ठीक से नहीं हुआ। देखो, इस समय हम दूसरों को धोखा देने के लिए यह झूठ बोल रहे हैं। तुम स्वयंसेवकों को समझा दो कि हमारे सार्वजनिक बयान सब झूठे होते हैं। सत्य केवल हमारे गुप्त सर्कुलर में होता है।

● हर दंगे की रिपोर्ट में तो भारतीय जनता पार्टी का नाम आता है। गाँधीवाद और समाजवाद वह चादर है, जिसमें छुरा छिपाया जाता है। यह लोगों को दिखता है।....मेरी सलाह है कि इस पार्टी को अपने पहले के शुद्ध रूप में आ जाना चाहिए। गाँधीवाद और समाजवाद ने इस शुद्धता को बहुत नुकसान पहुँचाया है। कोई इस पार्टी को न गाँधीवादी मानता, न समाजवादी। तो पार्टी पुनःविश्वास कैसे प्राप्त करे। एक ही रास्ता है—शुद्ध रूप में आ जाय। मेक अप उतार दे। गोरक्षा आन्दोलन करे और शुद्ध साम्प्रदायिक हो जाए। तब लोगों का विश्वास लौट आएगा।

● ये स्थानीय कार्यकर्ता संघ के स्वयंसेवक होते हैं। ये कट्टर होते हैं। इनसे 25 सालों से कहा जा रहा है कि कल हिन्दू राष्ट्र हो जाएगा। सरकार अपनी होगी। राष्ट्रपति भवन पर भगवा ध्वज लहराएगा। कल नहीं तो परसों। परसों नहीं तो तरसों जरूर। 1979 में जब जनता सरकार थी, तब इनसे कहा गया था कि ढाई साल में दिल्ली में संघ की सरकार होगी।

● जनता को यह हक है कि उसे नया-नया स्वाद मिले। फिर जनसंघ को जल्दी-से-जल्दी सारी जनतान्त्रिक संस्थाओं पर कब्जा भी तो करना है और जनता पार्टी के समाजवादियों को सिर्फ हल्ला करना है। भीड़ बुलाकर जमीन आसमान करते हुए क्रान्ति की दहाड़ लगाना है। दोनों ही ठीक कर रहे हैं। समाजवादी साथी न संगठन बढ़ाएँ, न काम बढ़ाएँ। शोर करें और जनसंघ धीरे-धीरे सब निगल ले। तब समाजवादियों को सन्तोष होगा कि क्रान्ति सम्पूर्ण हो गयी।

● हमारे नेताओं ने, मनीषियों ने कामना की थी—एक महादेश भारत होगा। इसमें विभिन्न धर्मों के, भाषाओं के, नस्लों के, जातियों के लोग भाईचारे के साथ रहेंगे.... इन्हीं मान्यताओं पर हमारा संविधान बना। पर साम्प्रदायिक राजनीति ने नफरत भर दी। मनुष्य की पहचान बदल दी। इस देश के लोगों को यदि स्वतन्त्र रहना है, राष्ट्रीय एकता रखना है, लोकतन्त्र रखना है, तो जनता सही शिक्षण देकर इस घृणा की राजनीति को परास्त करे—एक मात्र और सबसे बड़ा काम यही है।

● 1979 में संघ ने भारत सरकार पर कब्जा करना चाहा था। पर इसी कोशिश में जनता पार्टी टूट गयी और सरकार गिर गयी। तब संघ ने पार्टी पर कब्जा करने की कोशिश की और काफी हद तक यह हो भी गया। संगठन को सरकार का सहयोगी बनकर उसे बचाना और संगठन के ही दूसरे लोगों से विरोधी राजनीति कराना—यह दोनों हाथ उठाकर तार पर चलने जैसा सर्कस का खेल है। संघ के स्वयंसेवक काँग्रेसियों के साथ काम करेंगे और संघ के ही स्वयंसेवक, जैसे सकलेचा, पटवा काँग्रेस के विरुद्ध चुनाव लड़ेंगे। तब स्वयंसेवक काँग्रेस का काम करेंगे या सकलेचा का?

● डॉक्टर स्वामी आधुनिक प्रतिक्रियावादी हैं और अटल बिहारी मध्य युगीन प्रतिक्रियावादी हैं। दोनों में फर्क है। डॉक्टर स्वामी अमेरिका जैसा आधुनिक विज्ञान और तकनीक वाला पूँजीवाद चाहते हैं। अटल बिहारी राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के हैं, इसलिए अगर हवाई जहाज बन भी जाय, तो

उसमें नागपुर के आदेश से बैल जोते जाएँगे। अपने सब बढ़िया पाइलट हलवाहे हो जाएँगे।

● हम नेहरू को मिटाएँ तो मिटाएँ कैसे? इसके नाम की संस्थाएँ, संगठन, हजारों इमारतें, पार्क, लाखों सड़कें, लाखों आदमियों के नाम ही जवाहर लाल हैं। अटल बिहारी वाजपेयी विदेश जाएँ, तो वहाँ के नेता नेहरू की पहले बात करें। अगर वाजपेयी नेहरू की बुराई करें तो कोई विदेशी नेता उनसे बात न करे। साधो, बड़ी आफत कर रखी है इस नेहरू ने। सारे बौने पंजों पर खड़े होकर नेहरू के चेहरे को पोतने की कोशिश करते रहे, पर उनके हाथ कमर से ऊपर नहीं जाते। अब क्या करें? थूक कर देखा, पर थूक अपने ही मुँह पर गिरता है। बड़ी आफत कर रखी है इस नेहरू ने।

● अटल बिहारी का हिन्दू राष्ट्रवाद भी यही है कि एक इस्लामी देश उनकी मातृभूमि पर हमला करने को हथियार जमा करे, तो उन्हें ऐतराज नहीं है। सुभाष बाबू के आग्रह के बाद भी संघ के संस्थापक हेडगेवार राष्ट्रीय स्वाधीनता के आन्दोलन में शामिल नहीं हुए थे। उनके गुरु गोलवलकर ने भी संघ को स्वाधीनता आन्दोलन से दूर रखा।

● धर्म के नेताओं की मर्जी से साहित्य लिखवाया जाने लगा, तो एक कविता भी नहीं लिखी जा सकेगी। क्या तुम ऐसा करोगे कि कविता लिखो और उसे पहले नागपुर जाकर संघ के सरसंघ चालक से मंजूर कराओ। जिस जाति के धर्मगुरु कविता पर, साहित्य पर बंदिश लगाते हैं.... उस जाति पर दया आती है। हमें उस जाति के भविष्य के बारे में भी चिन्ता होती है। कालिदास बच गये। उन्होंने 'कुमारसम्भव' में तो शिव-पार्वती के रमण का वर्णन किया है, तो शैव उन्हें त्रिशूल से मार डालते। पर तब धर्मगुरु संकीर्ण नहीं थे।

● भारतीय जनता पार्टी अर्थात संघ, अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद अर्थात संघ और इन सब की गंगोत्री नागपुर में है ही हेडगेवार भवन में.... जब चारों तरफ पुलिस की निन्दा हो रही है कि उसने बेहिसाब गोली चलाकर मुसलमानों को मार डाला, तब आपका संगठन पुलिस का मनोबल बढ़ाने में लगा है। जब पुलिस मुसलमानों और हरिजनों पर अत्याचार करे, तब उसका मनोबल बढ़ाना चाहिए। साम्प्रदायिक समस्या और हरिजन समस्या का यही हल है।...लोग साम्प्रदायिकता के आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक कारण खोजने में लगे हैं। ये मूर्ख लोग हैं। अपना सरल हल है, बुद्धिमानों का–हिन्दू राष्ट्र है, इसलिए हिन्दू पुलिस मुसलमानों पर गोली चलाए।

● समाज में बुरे पर थूकने की शक्ति होती थी। इससे दुराचरण रुकते थे। यह शक्ति समाज खो चुका है। अब या तो लोगों का थूक सूख गया है या वे थूक गटक जाते हैं। आप समाज में थूकने की आदत फिर पैदा कीजिए। धिक्कार की आदत। जिस मठ में लगातार यज्ञ होता है, देवी बैठी हैं, सिंह देवी-दर्शन को आता है, वहाँ चोर घुस कर चोरी कर ले जाते हैं। धर्म, अनुष्ठान, मन्त्र, यज्ञ का जोर एटमी शक्ति को नष्ट कर सकता है, मगर चोरों से हार जाता है। ज्यादा सही यह है कि धर्म, यज्ञ, मन्त्र वगैरह चोरों की सहायता करते हैं। हर तरह के चौर कर्म–घूस, काला बाजारी, मुनाफाखोरी, राजनैतिक बेईमानी, पाखण्ड सबकी साधना धर्म की मदद से होती है।

● एक वर्ग ऐसा है, जो कभी किसी चीज के लिए नहीं लड़ता। लड़ना इसके स्वभाव में है ही नहीं। यह वर्ग केंचुए की तरह है। इसकी रीढ़ की हड्डी नहीं होती। मेरुदण्डविहीन वीरों का वर्ग है यह। यह जूतों पर सिर रखकर सुविधा लेने वाला वर्ग है। यह चूहे की तरह स्वस्थ जीवन-मूल्यों को कुतरता है। यह दो मुँहा, दो-रूपी होता है। समाज की किसी समस्या से इसे मतलब नहीं। यह दिखावट में जीता है। खोखली, अर्थहीन जिन्दगी। इस वर्ग को चाहिए वे सब चीजें, जो उसके खोखलेपन को भरती हैं।

● इतिहास बताता है कि हर धर्म के लोग विशेषकर धर्माचार्य यह भ्रम पालते रहे हैं कि ज्ञान उन्हीं के पास है–सत्य केवल उन्हीं ने पा लिया है। दूसरे धर्मावलम्बी अज्ञानी हैं और सत्य से दूर हैं। यह दुराग्रह अधिकार और संकीर्णता देता है और यही अन्धकार और संकीर्णता धर्माविलम्बियों को अज्ञान की तरफ ले जाता है और वे सत्य से दूर हो जाते हैं। ज्ञान एक सतत प्रक्रिया है, यह कभी खत्म नहीं होती। इसलिए ज्ञान के अन्तिम बिन्दु पर पहुँचने और ज्ञान पर एकाधिकार का दावा कोई नहीं कर सकता। यह दावा आत्मघाती है।

● भारतीय प्रजातन्त्र का सौभाग्य है कि यहाँ स्वतन्त्रता के बाद बहुत जल्दी काफी संख्या में चमचे बन गये। इसका कारण यह भी है कि चमचों का निर्माण स्वतन्त्रता-संग्राम के जमाने में शुरू हो गया था। उस दौर में नेता लोग अपने भावी चमचों को जेल भेजने की कोशिश करते थे.... तब जेल जाने की वैसी ही होड़ होती थी, जैसी अब चुनाव टिकट के लिए होती है। जब भारत स्वतन्त्र हुआ और प्रजातन्त्र आया, तो हर नेता को अपने शिक्षित और अर्द्धनिर्मित चमचे मिल गये। इससे भारतीय प्रजातन्त्र में एकदम स्थायित्व आ गया। एशिया और अफ्रीका के नये स्वतन्त्र जिन देशों में आजादी की लड़ाई के दौर में चमचों का निर्माण इस तरह नहीं हुआ था, वहाँ प्रजातन्त्र नहीं टिक सका। चाहे साम्राज्यवाद हो, चाहे प्रजातन्त्र–दोनों चमचों की बुनियाद पर खड़े रहते हैं।

● दिशाहीन, बेकार, हताश, नकारवादी, विध्वंसवादी बेकार युवकों की यह भीड़ खतरनाक होती है। इसका उपयोग महत्त्वाकांक्षी, खतरनाक विचारधारा वाले व्यक्ति और समूह कर सकते हैं। इस भीड़ का उपयोग नेपोलियन, हिटलर और मुसोलिनी ने किया था। यह भीड़ धार्मिक उन्मादियों के पीछे चलने लगती है। यह भीड़ किसी भी ऐसे संगठन के साथ हो सकती है, जो उन्माद और तनाव पैदा कर दे। फिर इससे विध्वंसक काम कराए जा सकते हैं। यह भीड़ फासिस्टों का हथियार बन सकती है। हमारे देश में यह भीड़ बढ़ रही है। इसका उपयोग भी हो रहा है। आगे इस भीड़ का उपयोग सारे राष्ट्रीय और मानव मूल्यों के विनाश के लिए, लोकतन्त्र के नाश के लिए करवाया जा सकता है।

● व्यंग्य एक पॉजिटिव चीज है, उसे नकारात्मक नहीं मानना चाहिए। व्यंग्य-लेखक यही तो बताता है कि समाज में यह बुरा है, यह असंगत है, यह अकल्याणकारी है। वह ऐसा इसलिए करता है क्योंकि वह दुखी है कि इतना बुरा क्यों हुआ? वह एक बेहतर मनुष्य, एक बेहतर समाज-व्यवस्था के प्रति आस्था रखता है, इसलिए जो बुराई आज उसे दिखती है, उसे इंगित करता है। डॉक्टर अगर मरीजों को रोग बताता है, तो वह निराशावादी, नकारात्मक और सिनिकल नहीं है। वह आदमी को स्वस्थ करना चाहता है, इसलिए रोग बताता है। अगर वह रोगी से कह दे कि वह तो स्वस्थ है, तो वह मर जाएगा।

■

यत्र-तत्र

सूचना और साहित्य

जय प्रकाश

सूचना के घटाटोप ने सामाजिक वातावरण को आच्छन्न कर लिया है। साहित्य के लिए अवकाश सिकुड़ गया है। मनोरंजन के साधनों की पहुँच घर के भीतर तक, बल्कि कमरे की चार दीवारों के बीच में मुमकिन है। मनोरंजन के साधन के रूप में साहित्य की जरूरत कम हो गयी है। क्योंकि कमरे के एकान्त में साहित्य की जगह मनोरंजन के अन्य वैकल्पिक साधन टीवी या मोबाइल फोन मौजूद हैं। इनमें मनोरंजन की तुरन्ता सामग्री सहज ही उपलब्ध है। फास्ट फूड की तरह उसका सेवन किया जा सकता है।

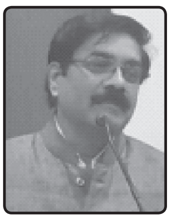

लेखक साहित्य-संस्कृति से सम्बन्धित विभिन्न विषयों पर पिछले 25 वर्षों से लेखन कर रहे हैं।
+919981064205
jaiprakash.shabdsetu@gmail.com

सभ्यता का इतिहास तकनीक के विकास से अभिन्न है। मनुष्य का आदिम अनुभव-संसार प्रकृति के साथ उसके संवाद और साहचर्य में निर्मित हुआ था। आरम्भ में मनुष्य प्रकृति से अलग नहीं था; बल्कि वह प्रकृति का अंग था। वह पशुओं में एक पशु था। लेकिन उसने अपने विकसित मस्तिष्क का इस्तेमाल प्रकृति की शक्तियों पर नियन्त्रण स्थापित करने के लिए किया। प्रकृति ने उसे अन्य प्राणियों की अपेक्षा अत्यन्त विकसित मस्तिष्क प्रदान किया था। इसके साथ ही विचारशीलता और कल्पनाशीलता का वरदान भी उसे मिला था। इसके चलते उसने प्रकृति के साहचर्य में प्राप्त अनुभवों को आदिम कल्पना और आदिम तर्क की रौशनी में पुनर्गठित करने का यत्न किया। इनके सहारे वह अपने नैसर्गिक संसार को समझने का और उसी क्रम में उसे बदलने का प्रयत्न कर सकता था। उसने आदिम कल्पना से मिथकों का और आदिम तर्क से जादू का सृजन किया। मिथकों से वह अपने संसार को समझने-गुनने और जादू से उसे बदलने का यत्न कर सकता था। इसी प्रयत्न में आगे चलकर अपने श्रम के योग से जब उसने सभ्यता की सृजन-यात्रा आरम्भ की तो प्रकृति के सान्निध्य में अर्जित अनुभव का क्रमशः ज्ञान में रूपान्तरण हुआ। यह अनुभवात्मक ज्ञान मानवीय सृजन और सभ्यता-बोध के विकास के साथ क्रमशः विकसित होता चला गया। अब मनुष्य और प्रकृति अभिन्न नहीं रह गये थे, उनके बीच विलगाव के साथ एक द्वैत पसर गया था। प्रकृति के साथ साहचर्य का भाव अब स्वामित्व के भाव में बदलने लगा। शताब्दियों के बाद सभ्यता की प्रगति के उच्चतर चरण में जब औद्योगिक क्रान्ति हुई तो उसने मनुष्य के सभ्यता-बोध को बुरी तरह झकझोर दिया। उसने ज्ञान को शक्ति का पर्याय घोषित कर दिया। प्रकृति अब पूर्णतः वेध्य थी। उसकी नैसर्गिक सहजता छीजने लगी थी। अब सभ्यता की कृत्रिम संरचनाएँ और प्रौद्योगिकी की विस्मयकारी उपलब्धियाँ मनुष्य जाति की सृजनात्मकता और पराक्रम का उद्घोष कर रही थीं।

औद्योगिक क्रान्ति के बाद मनुष्य की जययात्रा निर्बाध गति से आगे बढ़ी और मानव-सभ्यता को उसने ऐसी अवस्था में ला खड़ा किया, जहाँ उसकी तीव्र गति के बीच ठहरकर अपनी नियति पर विचार करने की फुर्सत नहीं थी। आज प्रगति और विकास की नृशंस महत्त्वाकांक्षा से प्रेरित हो कर ज्ञानोद्धत सभ्यता आत्मनाश की आशंका को भी नजरंदाज कर अकल्पनीय त्वरा के साथ भागती हुई हाँफ रही है। लेकिन इस जगह पर पहुँच कर उसने ज्ञान को सूचना में रूपान्तरित कर उसका इस्तेमाल करने का कौशल अर्जित कर लिया है। पृथ्वी के जैव मंडल (बायोस्फीयर) पर मनुष्य जाति द्वारा कब्जा कर लिये जाने के बाद उसकी असंदिग्ध प्रभुसत्ता कायम हो चुकी है, मगर दूसरी तरफ

मनुष्येतर प्राणियों और वनस्पतियों का अस्तित्त्व तुच्छ जान पड़ता है। वहीं सूचना प्रौद्योगिकी के अभूतपूर्व विकास के साथ अब जैव मंडल को विराट सूचना मंडल (इन्फोस्फीयर) ने विस्थापित कर दिया है। इसमें मानवेतर जीव जगत की उपस्थिति भी महज सूचना की तरह है। प्रौद्योगिकी ने एक स्वायत्त संसार रच डाला है। संसाधन में रूपान्तरित मनुष्य भी यहाँ सिर्फ सूचना है। अभी वैश्विक महामारी के दौर में मनुष्य की दैनन्दिन मौतों को हमने सूचना-मात्र में अपघटित होते देखा है। लाखों इंसान देखते-ही-देखते आँकड़ों में तब्दील हो गये। टीवी पर मौतों के दृश्य सूचना की तरह प्रकट होते थे। जीवित इंसान सूचना की तरह इनका उपभोग करते रहे। मनुष्य का प्रत्येक कार्यकलाप सूचना में बदल जाने को अभिशप्त हो चुका था। 'सार्वजनिक' और 'निजी' के बीच अन्तर समाप्त हो गया। सार्वजनीन साझा संस्कृति की सामुदायिकता बिखर गयी और अब उसे अपदस्थ कर सोशल मीडिया निजता का उत्सव मना रहा है। आभासी सामाजिकता ने जीवन की सामुदायिकता को विस्थापित कर दिया है। प्रौद्योगिकी की ऐसी आक्रामक उपस्थिति अभूतपूर्व है। सभ्यता के पुनर्गठन के विराट उद्यम में प्रौद्योगिकी ने उसकी जगह ले ली है। हम प्रौद्योगिकीय विकास को ही सभ्यता मानने को विवश हैं। उसके भीतर से संस्कृति की आत्मा ने अन्तिम विदाई ले ली है।

हम ऐसे समाज में अपना जीवन जी रहे हैं जहाँ अधिकतर लोग सूचना के सृजन, संकलन, प्रसंस्करण, वितरण और उपभोग में लगे रहते हैं। औद्योगिकीकरण की अवस्था तक श्रम की जो भूमिका समाज के गठन में हुआ करती थी, आज सूचना उसी भूमिका में है। श्रमजीवी समाज सूचनाजीवी समाज में रूपान्तरित हो गया है। नतीजतन श्रमजीवी समाज में श्रम से उपजने वाली सहज अभिव्यक्तियाँ यानी साहित्य आज अवकाश का मोहताज हो गया है। अवकाशभोगी प्रभुवर्ग का उदय हो चुका हुआ है।

आज के प्रभुवर्ग ने सूचना पर भी अधिकार कर लिया है। अब वह सूचना के स्रोतों और संसाधनों पर कब्जा कर अपने हितों के अनुकूल उन्हें चुन कर और निमार-छान कर अपनी सुविधानुसार वितरित कर सकता है और उसी के अनुसार जनमत का उत्पादन कर सकता है। टेलीविजन-उद्योग पर कॉरपोरेट के एकाधिकार और उसके द्वारा उत्पादित सूचनाओं की प्रकृति पर गौर करें तो एकाधिकारी पूँजी के विश्व-वर्चस्व की आकांक्षा और उसकी लीला का रहस्य खुल जाता है। मीडिया के जरिए सूचनाओं की अन्धाधुन्ध बमबारी कर जनमत बनाने और अपने अनुकूल वातावरण रचने के प्रयास में राजनीतिक सत्ताओं को बदलते हुए हमने हाल ही में देखा है। लेकिन याद रखना जरूरी है कि यह सब सिर्फ सत्ता बदलने का खेल-भर नहीं था, बल्कि इससे हमारा यथार्थ और यथार्थ-बोध बदल गया है। दुनिया-भर में लोकतन्त्र अब यथार्थ से नहीं, उसकी छवि या 'परसेप्शन' से संचालित होता है। 'परसेप्शन' को सूचना के जरिए नियन्त्रित और अनुकूलित किया जा सकता है। जिसे यथार्थ के रूप में हम जानते हैं, दरअसल वह छवि-प्रबन्धन का मामला बन जाता है। 'परसेप्शन' से यथार्थ को अनुकूलित करने की प्रविधि को बाजार के समूचे कारोबार में देखा जा सकता है, जहाँ विज्ञापन के माध्यम से वस्तुओं की बिक्री का प्रबन्धन कुशलता से किया जाता है। झूठी आश्वस्ति के विराट कारोबार में विज्ञापन-जगत फलता-फूलता है, यह कौन नहीं जानता। क्या सूचना का उत्पादन किये बिना मनुष्य की आवश्यकताओं का उत्पादन सम्भव है? कहने की जरूरत नहीं कि यह सब सूचना-सभ्यता में ही सम्भव है।

जाहिर है, सूचना समकालीन जीवन की दुर्निवार आवश्यकता है। जिसे हम समाज कहते हैं, वह वस्तुतः एक इन्फो स्फियर है–सूचनाओं से बजबजाता वातावरण। इसे प्रौद्योगिकी ने रचा है। यहाँ सूचना का तुमुल कोलाहल है। कौन कह सकता है कि यह दुनिया की जरूरत नहीं है। हर हाथ जिसमें मोबाइल सुशोभित है, उसे धारण करने वाला व्यक्ति डेटा का उपभोक्ता है। सूचना के उपभोग से भला कौन होगा जो बच सका है। जो सूचना के उपभोग के योग्य नहीं, वह अभागा है। डिजिटल हैव्स और हैव नॉट्स के बीच खाई सँकरी होने लगी है, यद्यपि अभी भी बहुत गहरी है। लेकिन इस बात में सन्देह नहीं कि दुनिया सचमुच इसके बगैर अधूरी जान पड़ती है।

बीती शताब्दी के उत्तरार्द्ध में डिजिटल क्रान्ति के घटित होने के बाद समाज में सूचना की भूमिका सामने आयी और देखते-ही-देखते वह एक नियामक शक्ति बन गयी। सूचना क्रान्ति से मानव-जीवन का हर क्षेत्र निर्णायक रूप से प्रभावित हुआ है। पिछली शताब्दी के आठवें-नवें दशक में सूचना समाज के निर्माण की आहट आने लगी थी। वैश्विक स्तर पर सूचना के प्रसार की प्रतिस्पर्द्धा शीतयुद्ध की परिस्थितियों में घमासान का रूप ले रही थी और विमर्श में सूचना साम्राज्यवाद शब्द प्रचलन में आ चुका था। अन्तिम दशक में इंटरनेट के वैश्विक संजाल के निर्माण के साथ भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया तीव्र हो उठी। वह प्रौद्योगिकी, बाजार और पूँजी के संयुक्त उद्यम से आर्थिक एकीकरण, सांस्कृतिक एकरूपीकरण, सामाजिक समरूपीकरण में चरितार्थ होकर उनके जरिए अग्रसर हो रही थी। विश्विक सूचना-तन्त्र पर निर्भर एक नया समाज बन रहा था। सूचना के उत्पादन, विनिमय और उपभोग के इर्द-गिर्द संगठित इस नये वैश्विक समुदाय को ज्ञानाश्रयी समाज (नॉलेज बेस्ड सोसायटी) कहा गया। जाहिर है, यहाँ सूचना ही ज्ञान के रूप में विराजमान था। यही आज का सूचना समाज है। कहने की जरूरत नहीं कि शिक्षा, स्वास्थ्य, राजनीति, व्यापार, उद्योग, राजनय, अर्थव्यवस्था, संस्कृति, मनोरंजन–गरज यह कि जीवन के हर क्षेत्र में डिजिटल तकनीक और उससे उत्पादित सूचनाओं की भूमिका महत्त्वपूर्ण हो चली है। कहा जाना चाहिये कि हम सूचना-युग में जी रहे हैं। यहाँ नागरिक होने की शर्त है उपभोक्ता होना। नागरिक यदि उपभोक्ता होने को विवश है तो समाज की नियति भी बाजार हो जाने में है। औद्योगिक सभ्यता और उद्योगों के बीच जो रिश्ता था, वही आज सूचना सभ्यता और सूचना के बीच है।

अब सूचना ने समाज के भीतर एक निश्चित प्रौद्योगिकीय अवस्था के चलते पिछले तीन दशक के दौरान एक खास तरह का सामाजिक संगठन निर्मित कर लिया है जिसमें उत्पादकता और सत्ता का स्रोत सूचनाओं के उत्पादन, प्रसंस्करण और प्रसारण में निहित है। बाजार, पूँजी और प्रौद्योगिकी का समूचा कारोबार सूचना के उत्पादन और संचार पर निर्भर हो गया है। प्रौद्योगिकी क्रान्ति ने सब कुछ को डिजिटल, बेठोस और आभासी बना दिया है। समूची सभ्यता एक तरह की आभासी

समानान्तरता में स्पंदित है। अब तो आभासी और वास्तविक का भेद भी मिटने लगा है। ई-शॉपिंग, ई-मार्केटिंग, ई-सेमिनार, ई-वर्कशॉप, ई-कॉन्फ्रेंसिंग, ई-लर्निंग, ई-क्लास, ई-टीचिंग–जैसे शब्दों या डिजिटल अथवा वर्चुअल विशेषण के साथ तमाम मानवीय क्रियाएँ जुड़कर मानव जाति के सामाजिक कार्यकलाप को आभासी की देहरी के भीतर खींच लायी हैं। उदाहरण के लिये वर्चुअल सेक्स या डिजिटल इकोनॉमी जैसे सैकड़ों शब्द आज हमारी सामाजिकता के एक नये रूपान्तरण का ऐलान कर रहे हैं। जाहिर है, जीवनशैली का कोई भी हिस्सा बाकी नहीं रह गया है जो इससे प्रभावित न हुआ हो।

सूचना-सभ्यता ने मनुष्य-जाति को मुक्त किया है या उसे एक नयी गुलामी में जकड़ दिया है–इसे भी समझने की जरूरत है। दरअसल सभ्यता की किसी खास अवस्था में जब नयी प्रौद्योगिकी का प्रवेश होता है, तब वह एक तरफ मनुष्य को मुक्त करती है, लेकिन दूसरी तरफ उसके नये बन्धन भी निर्मित करती है। औद्योगिकीकरण के चलते सामन्ती जकड़न से मुक्त होकर स्वतन्त्रता की ओर बढ़ते हुए समाज में न्याय, आजादी और समानता की नयी अवधारणाएँ विकसित हुईं लेकिन कुछ ही समय बाद नयी सामाजिक संरचनाएँ शोषण, दमन और विषमता की नयी परिस्थितियों में आकार लेने लगीं। सूचना-सभ्यता में भी एक ओर जहाँ मानवीय सृजनात्मकता और स्वतन्त्र अभिव्यक्ति का अपेक्षाकृत अधिक लोकतान्त्रिक स्पेस निर्मित हुआ है, वहीं उसे नियन्त्रित करने और अपने हितों के अनुरूप संचालित करने के लिए पूँजी और वर्चस्व की शक्तियों ने उसके प्रौद्योगिकीय स्रोतों और स्वामित्व पर कब्जा करने में देर नहीं की। बड़े मीडिया हॉउस के मालिक बड़े कॉरपोरेट घराने हैं।

यह ठीक है कि समकालीन समाज में सूचनाओं तक सामान्य नागरिक की पहुँच बढ़ी है और इस कारण वह आत्माभिव्यक्ति में अधिक सक्षम हुआ है; नयी प्रौद्योगिकियों के जरिए उसे राजनीतिक और सामाजिक-सांस्कृतिक दायरों में बेहतर भागीदारी का मौका भी मिल सका है, लेकिन यह भी देखा जा सकता है कि सूचना का अनुपातहीन और निर्बाध उत्पादन जारी है। साथ ही उनका अनुकूलन और प्रबन्धन भी चतुराई से किया जाने लगा है। उपयोगी-अनुपयोगी आवश्यक-अनावश्यक सूचनाओं का फर्क ही नहीं, सच और झूठ का फर्क भी खत्म हो चला है। नागरिक विवेक पर पहरा बिठा दिया गया है। नीर-क्षीर की पहचान अब आसान नहीं। सूचना-बाहुल्य से घिरे रहने के कारण कई बार विभ्रम और दुश्चिन्ताएँ भी पैदा होती हैं। फिर यह भी स्पष्ट है कि सूचना और उसकी प्रौद्योगिकी पर नियन्त्रण स्थापित करने वाली सत्ताएँ उसका उपयोग व्यक्ति और समाज के कार्यकलाप की अधिक पैनी निगरानी के लिए कर रही हैं। इससे व्यक्ति की निजता का अक्षुण्ण रह पाना संदिग्ध हो उठता है। पैगासस सॉफ्टवेयर से निगरानी के विषय में हाल ही में हमने जाना-सुना है। अनेक प्रकार के स्पायीवेयर के जरिए विकसित वैश्विक निगरानी तन्त्र में व्यक्ति की स्वतन्त्रता और निजता को कितना बड़ा खतरा हो सकता है, यह सोच कर दहशत होती है। पश्चिम के पूँजीवादी उदार लोकतन्त्र ने जिस व्यक्ति स्वातंत्र्य के नाम पर समाजवादी सत्ताओं को चुनौती देते हुए कभी हाय तौबा मचायी थी, आज उत्तर पूँजीवाद के दौर में उसे ही चकनाचूर करने में उसे कोई हिचक नहीं है। नागरिक स्वतन्त्रता की बहस बेमानी हो चुकी है। सोशल मीडिया के आभासी स्पेस में पहुँचते ही या किसी भी किस्म की ऑनलाइन गतिविधि में शामिल होते ही हम पर नजर रखना आसान हो जाता है। हमारी खरीद-फरोख्त और घूमने-फिरने से सम्बन्धित जानकारियाँ भी इकट्ठा की जा रही हैं। सूचना-सभ्यता मानवीय स्वतन्त्रता का हनन करती है। एक तरफ अभिव्यक्ति की बेरोक आजादी और दूसरी तरफ नागरिक की पैनी निगरानी–इस अन्तर्विरोध के बीच देखा जाना चाहिए कि सत्ताएँ झूठ के साम्राज्य को रचने में किस चतुराई से निगरानी-तन्त्र को दमन के यन्त्र में बदल देती हैं। भीमा कोरेगाँव मामले को आखिर और किस नजर से देखा जा सकता है? प्रौद्योगिकी इस तरह फासीवाद के प्रसार का जरिया भी बन जाती है।

इसमें सन्देह नहीं कि प्रौद्योगिकी ने जिस तरह का वातावरण (टेक्नोस्फियर) रचा है, उसमें सारी दुनिया साँस ले रही है। तमाम मानवीय गतिविधियाँ उसके भीतर सम्पन्न हो रही हैं। शिक्षा, स्वास्थ्य, वाणिज्य-व्यापार, चिकित्सा, प्रशासन, राजनीति, कानून, संस्कृति और धर्म के नियमित कार्य-निष्पादन में प्रौद्योगिकी अपनी भूमिका सुनिश्चित कर चुकी है। जाहिर है, साहित्य और कलाएँ भी उसकी जद में हैं।

इस स्थिति का प्रभाव अनेक रूपों में दिखाई देता है। अव्वल तो यह कि सूचना के घटाटोप ने सामाजिक वातावरण को आच्छन्न कर लिया है। साहित्य के लिए अवकाश सिकुड़ गया है। मनोरंजन के साधनों की पहुँच घर के भीतर तक, बल्कि कमरे की चार दीवारों के बीच में मुमकिन है। मनोरंजन के साधन के रूप में साहित्य की जरूरत कम हो गयी है। क्योंकि कमरे के एकान्त में साहित्य की जगह मनोरंजन के अन्य वैकल्पिक साधन टीवी या मोबाइल फोन मौजूद हैं। इनमें मनोरंजन की तुरंता सामग्री सहज ही उपलब्ध है। फास्ट फूड की तरह उसका सेवन किया जा सकता है। इनमें सूचनात्मकता इतनी मारक है कि वह साहित्य के भावक को पल-भर में सूचना के उपभोक्ता में बदल देती है। इसके लिए वह मनुष्य की ऐंद्रिक सम्वेदना को हिला कर रख देती है। उसे अपनी उत्तेजक तात्कालिकता और अपूर्व रोमांच से भर देती है। जाहिर है, इस स्थिति में सूचना निर्विघ्न होकर साहित्य को विस्थापित कर देती है। कहने की आवश्यकता नहीं है कि साहित्य की पाठक संस्कृति टीवी या मोबाइल फोन की दर्शक संस्कृति के आगे कमजोर पड़ जाती है।

दूसरा यह कि पाठक संस्कृति भी वही नहीं रह गयी जो पहले थी। उसमें नये आयाम जुड़ गये हैं। पुस्तक के पठन का चलन नयी पीढ़ी में अपेक्षाकृत क्षीण हुआ है और पुस्तक की जगह को ई-बुक लेती जा रही है। नया पाठक कम्प्यूटर के स्क्रीन पर पढ़ता है। इस रूप में साहित्य साइबर स्पेस के आभासी पटल में स्थानान्तरित हुआ है। इसे साहित्य के स्पेस का विस्तार माना जा सकता है।

तीसरा यह कि साहित्य स्वयं अपनी काया को रूपान्तरित करने को विवश है। डिजिटल होने की सम्भावना या नियति से उसे बचाया नहीं जा सकता। वह इसके लिए तैयार भी है। डिजिटल कविता-जैसी तकनीक-आधारित नयी विधा आविर्भूत हुई है जो ध्वनि, चित्र और शब्द के संयोजन में कलात्मक प्रभाव उत्पन्न करती है। यह डिजिटल कविता का शुरूआती दौर है। देखना यह है कि नये ढंग का यह साहित्य क्या और कैसा रंग-रूप लेगा। ■

भारत-योरोप आर्थिक गलियारा

धीरंजन मालवे

वर्तमान में भारत से निर्यात होने वाला माल स्वेज नहर से होकर योरोपीय देशों में पहुँचता है। प्रस्तावित योजना के मार्ग से माल 40 प्रतिशत अधिक तीव्र गति से अपने गंतव्य तक भी पहुँचेगा एवं खर्च कम आएगा जिससे माल की लागत में कमी आएगी। साथ ही, स्वेज नहर पर निर्भरता में भी बहुत कमी आ जाएगी। इस योजना को चीन की महत्त्वाकांक्षी योजना, 'बेल्ट एंड रोड इनीशिएटिव' के जवाब के रूप में भी देखा जा रहा है।

लेखक बीबीसी में प्रसारणकर्मी एवं प्रसार भारती के पूर्व उच्चाधिकारी रहे हैं।
+919810463338
dhiranjan@gmail.com

भारत वर्तमान में विश्व की पाँचवी सबसे बड़ी अर्थ व्यवस्था है। भारत से अग्रणी देश हैं–अमरीका, चीन, जापान और जर्मनी। ऐसा माना जा रहा है कि यदि भारत ने अपनी अर्थव्यवस्था के विकास की मौजूदा दर को बनाए रखा तो 2030 तक यह देश जर्मनी और जापान को पछाड़ते हुए विश्व की तीसरी सबसे बड़ी अर्थव्यवस्था बन जाएगा। आकलन के अनुसार अभी भारत का सकल घरेलू उत्पाद 3,730 अरब अमरीकी डॉलर के बराबर है जो 2030 तक 7,300 अरब अमरीकी डॉलर तक पहुँच जाएगा।

अर्थव्यवस्था के निरन्तर विकास की गति को बनाए रखने के लिए किसी भी प्रभावी रणनीति का अत्यन्त आवश्यक अवयव है निर्यात को निरन्तर प्रोत्साहित करते रहना। इसके लिए यह जरूरी है कि भारत से निर्यात किए जाने वाले माल को तीव्र गति से और कम से कम कीमत पर दूसरे देशों तक, सुरक्षित ढंग से पहुँचाया जाए ताकि हम अपने प्रतिद्वन्दी देशों से आगे रह पाएँ।

पिछले सितम्बर 2023 में सम्पन्न जी 20 देशों के सम्मेलन में इस दिशा में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण निर्णय लिया गया। यह था भारत से मध्यपूर्व के रास्ते योरोपीय देशों तक एक आर्थिक गलियारे का निर्माण। इस गलियारे के निर्माण के सिलसिले में हुए समझौते पर 10 सितम्बर 2023 को भारत, अमरीका संयुक्त अरब अमीरात, सउदी अरब, फ्रांस, जर्मनी, इटली, और योरोपीय संघ ने हस्ताक्षर किए।

इस योजना के अनुसार भारत से निर्यात होने वाले माल को भारतीय बन्दरगाहों पर बड़े बड़े कंटेनरों में भर कर सील कर दिया जाएगा और ये सीलबन्द कंटेनर समुद्री मार्ग से चलकर संयुक्त अरब अमीरात के फुजैराह बन्दरगाह पहुँच जाएँगे। यहाँ से इन सीलबन्द कंटेनरों की रेलयात्रा शुरू होगी और इजरायल के हाइफा बन्दरगाह तक चलेगी।

फुजैराह से हाइफा तक के रेल मार्ग का अधिकांश हिस्सा बना बनाया है लेकिन बीच बीच में कुछ कुछ समस्याएँ भी हैं। इसे विस्तार से समझते हैं। फुजैराह से सउदी अरब की सीमा पर स्थित गवीफात शहर तक 605 किलोमीटर का रेल मार्ग मजे में काम कर रहा है। गवीफात से सउदी अरब के नगर हराद के बीच के 250 किलोमीटर में रेल मार्ग विकसित नहीं है मगर इस मार्ग पर रेल की पटरी बिछाने का काम चल रहा है। हराद से सउदी अरब और जॉर्डन की सीमा पर स्थित अल हदीता के बीच 1392 किलोमीटर लम्बी रेल लाइन भी काम कर रही है। अब केवल अल हदीता से इजरायल के हाइफा बन्दरगाह तक की 300 किलोमीटर की दूरी

बची रहती है। इसका भी अधिकांश हिस्सा बना बनाया है और शेष भाग को पूरा करने में अधिक समय नहीं लगेगा। जब बीच के छूटे हुए हिस्से निर्मित हो जाएँगे तो सीलबन्द कंटेनर फुजैराह बन्दरगाह से हाइफा बन्दरगाह तक निर्बाध रूप से दौड़ेंगे।

इजरायल के हाइफा बन्दरगाह से सीलबन्द कंटेनर समुद्र मार्ग से यूनान के पुरैयस बन्दरगाह पहुँचेंगे। यहाँ से इन्हें योरोपीय नगरों में इनके गंतव्य तक पहले से ही विकसित यूरोपीय रेलमार्गों द्वारा भेजा जाएगा। इस पूरी व्यवस्था के चालू हो जाने के बाद मार्ग में पड़ने वाले सभी देशों को लाभ मिलेगा और पूरा इलाका समृद्ध बनेगा।

वर्तमान में भारत से निर्यात होने वाला माल स्वेज नहर से होकर योरोपीय देशों में पहुँचता है। प्रस्तावित योजना के मार्ग से माल 40 प्रतिशत अधिक तीव्र गति से अपने गंतव्य तक पहुँचेगा एवं खर्च भी कम आएगा जिससे माल की लागत में कमी आएगी। साथ ही, स्वेज नहर पर निर्भरता में भी बहुत कमी आ जाएगी।

इस योजना को चीन की महत्त्वाकांक्षी योजना, 'बेल्ट एंड रोड इनीशिएटिव' के जवाब के रूप में भी देखा जा रहा है जिसे संक्षेप में 'बी.आर. आई.' नाम से भी जाना जाता है। 2013 में राष्ट्रपति शी जिनपिंग द्वारा शुरू की गयी यह योजना अत्यन्त बृहद है और इसमें 155 देश शामिल हैं। इस दैत्याकार चीनी योजना के दो अवयव हैं। पहला अवयव भू-मार्ग का है जिसके अन्तर्गत चीन के विभिन्न इलाके सड़कों और रेल मार्ग के माध्यम से दक्षिण एशिया, मध्य एशिया और योरोप के देशों से जुड़ेंगे। दूसरा अवयव समुद्री मार्ग का है। इसके अन्तर्गत चीन के बन्दरगाहों को विभिन्न एशियाई और अफ्रीकी देशों के बन्दरगाहों से समुद्री मार्गों से जोड़ा जाएगा। साथ ही कई दक्षिण अमरीकी देश भी इस योजना का अंग बनेंगे। जितने देश इस योजना का हिस्सा बनने के लिए हामी भर चुके हैं वे विश्व की कुल आबादी का पचहत्तर प्रतिशत हैं और उनका कुल सकल घरेलू उत्पाद विश्व भर के सकल घरेलू उत्पाद का आधा है।

बी.आर.आई. का दायरा अत्यन्त व्यापक है। जहाँ भारत से योरोप जाने वाला प्रस्तावित गलियारा एक रेखीय है वहीं बी.आर.आई' किसी विशाल वटवृक्ष की भाँति है जिसकी अनेक शाखाएँ और उप शाखाएँ हैं। बी.आर. आई योजना 2013 से ही चल रही है और जमीनी स्तर पर इस योजना पर काफी काम भी हुआ है। इस योजना के प्रशंसकों का मानना है कि इससे वैश्विक अर्थ व्यवस्था का तीव्र गति से विकास होगा। खासकर विकासशील देशों को इस योजना का अच्छा खासा लाभ मिलेगा। मगर इस योजना के आलोचकों का मत है कि इसके कार्यान्वयन के दौरान मानवाधिकारों का हनन किया जा रहा है और इसके कारण पर्यावरण पर पड़ने वाले दुष्परिणामों की अनदेखी की जा रही है। यह भी कहा जा रहा है कि योजना का मूल उद्देश्य पूरे विश्व में चीन के वर्चस्व को स्थापित करना और एक नये प्रकार के साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद को जन्म देना है। कई आलोचक यह भी कह रहे हैं कि इस योजना के बहाने से चीन विकासशील देशों को कर्ज के जाल में फँसा रहा है और कर्ज न चुकाने की स्थिति में उन देशों की परिसम्पत्तियों को अपने अधिकार में ले ले रहा है। श्रीलंका इसका जीता जागता उदाहरण है। बी.आर. आई योजना ने श्रीलंका को कंगाली की हालत में पहुँचा दिया। इटली ने तो इस योजना को अपने देश से अलविदा ही कहने का निर्णय लिया है। भारत ने हमेशा ही इस दिशा में चीन की पेशकश को ठुकराया है।

जो भी हो, प्रस्तावित भारत-योरोप आर्थिक गलियारे की तुलना में चीन का बी.आर.आई अभी तक तो काफी आगे है। इतना अवश्य है कि कालान्तर में प्रस्तावित योजना भी और अधिक पल्लवित एवं पुष्पित हो सकती है तथा इसकी भी शाखाएँ और उपशाखाएँ उत्पन्न हो सकती हैं। ऐसा माना जा रहा है कि कुछ वर्षों के उपरान्त दक्षिण पूर्व एशिया के देश तो इस योजना का हिस्सा बनेंगे ही, अफ्रीकी देशों को भी इससे जोड़ा जाएगा।

इस योजना के मार्ग में रुकावटें भी आ सकती हैं। चीन अपनी कूटनीति के माध्यम से इस योजना को पटरी से उतारने की पूरी कोशिश कर रहा है। तुर्की भी इस बात से खासा नाराज है कि उसकी अनदेखी की गयी है और उसे इस योजना से अलग थलग रखा गया है। कई कूटनीतिज्ञों और विश्व राजनीति के जानकारों का यह भी मत है कि इस योजना से अरब देशों और इजरायल के आपसी रिश्ते मजबूत होंगे और यह बात चीन और ईरान सहित कई देशों को रास नहीं आ रही है। ऐसे देशों ने ही इस योजना में अड़चनें पैदा करने और इसे पटरी से उतारने के इरादे से हमास को इजरायल पर पिछले सात अक्टूबर के अत्यन्त बर्बर हमले के लिए उकसाया। ऐसे देश यह मान कर चल रहे थे कि हमास के इतने बर्बर हमले के बाद इजरायल चुप नहीं बैठेगा और बदले की कारवाई पर उतारू होगा। यह कारवाई अरब देशों को क्रोधित करेगी और फिर यह योजना अपने आप ही खटाई में पड़ जायेगी। अभी तक गनीमत यही है कि दूसरे देश इस युद्ध में सीधे सीधे कूदने से परहेज कर रहे हैं। अमेरिका भी लगातार कोशिश कर रहा है कि इसके पहले कि मौजूदा संघर्ष नियन्त्रण के बाहर हो जाए, इस पर समय रहते काबू पा लिया जाए।

भारत को पूरी-पूरी आशा है कि मौजूदा संघर्ष का समाधान शीघ्र निकल आएगा। और मार्ग में आने वाली कठिनाइयों पर अन्ततः विजय पा ली जाएगी। इसी आशा के साथ भारत ने इस योजना पर काम शुरू कर दिया है और सरकार द्वारा 3.5 लाख करोड़ का बजट भी निर्धारित कर दिया गया है। इस राशि का इस्तेमाल देश के पश्चिमी तटों पर स्थित बन्दरगाहों को रेल मार्ग से प्रभावी ढंग से जोड़ने में किया जाना है ताकि भारत के किसी भी कोने से निर्यात किए जाने वाले माल को इन बन्दरगाहों तक 36 घंटों के भीतर पहुँचाया जा सके।

भारत के प्रधानमन्त्री ने यह आशा व्यक्त की है कि किसी दिन यह आर्थिक गलियारा वैश्विक अर्थव्यवस्था का आधार बन जाएगा और विश्व इतिहास यह याद रखेगा कि इस गलियारे की शुरूआत भारत से हुई थी।

■

सत्ता के दबाव से रंगमंच का बिगड़ता चेहरा

राजेश कुमार

पिछले कुछ वर्षों से सत्ता की अनुमति के बिना किसी भी नाट्य संस्थान का पत्ता तक नहीं हिलता है। आजकल एक नया ट्रेंड आ गया है, सरकार के बदलते सारे शिक्षण संस्थानों के वाइस चांसलर एक सिरे से बदल दिए जाते हैं। स्कूल-कॉलेज के पाठ्य क्रम भी इसी झोंके में उलट-पलट कर दिए जाते हैं। अब इसके दायरे में नाट्य संस्थान भी आ गये हैं।

लेखक भारतीय रंगमंच को संघर्ष के मोर्चे पर लाने वाले अभिनेता, निर्देशक और नाटककार हैं।
+919453737307
rajeshkr1101@gmail.com

नहुष नामक राजा ने अपनी नीति, बुद्धि और पराक्रम से जब स्वर्ग का राज्य प्राप्त किया तो वहाँ संगीत, नृत्य तथा नाट्य को देखकर इन विद्याओं को पृथ्वी पर लाने के लिए चिन्तित हुए। राजा ने देवताओं से अंजलि बाँधकर नाट्य प्रयोग के लिए कहा–अप्सराओं के साथ मेरे घर में भी नाट्य हो। तब वृहस्पति को आगे करके देवों ने उत्तर दिया–'अप्सराओं का मनुष्यों से मेल सम्भव नहीं हैं। पर आप स्वर्ग के शासक हैं अतः हम हितकारक और उचित उपाय बताते हैं। यहाँ से नाटक के आचार्य पृथ्वी पर जाकर नाटक सिखाने का कार्य करेंगे।' तत्पश्चात् भरत पुत्रों ने पृथ्वी पर नहुष के घर जा कर नाटक को उतारा। किसी की शरण में किसी कला का वास होगा तो इससे कोई इनकार नहीं कर सकता है कि उस पर छत्रछाया देने वाले का कोई प्रभाव या दबाव नहीं पड़ेगा। सदियों तक संस्कृत नाटक ऐसे ही राजाओं के महलों में फलता–फूलता रहा है। राजा द्वारा उपलब्ध करायी गयी सुविधाओं के बीच संस्कृत नाटक लिखा व खेला गया। भले राजा द्वारा संस्कृत नाटकों पर दिए गये दबावों का उल्लेख कहीं देखने को नहीं मिलता है, पर संस्कृत नाटकों में नाटक का कथ्य, नायक की परिभाषा और उनकी भाषा को लेकर जिस तरह का दिशा निर्देश दिखता है, वह सत्ता के दबाव को ही परिलक्षित करता है। और व्यावहारिक भी नहीं है कि जिसकी दया पर आपका निर्वाह हो रहा है, उसके विपरीत या विरोध में चले जाये। किस सामन्त का इतना बड़ा हृदय होगा कि अपने आँगन में बिठाकर अपनी ही खामियाँ बैठकर सुने, और किस नाट्यकर्मी के पास इतना साहस होगा कि जिसका खाये, उसी पर गुर्राये?

यह दबाव केवल राजतन्त्र में ही नहीं, लोकतन्त्र में भी भलीभाँति दिखता है। इस्लाम के आने के बाद राज सत्ता द्वारा प्रश्रय न मिलने के कारण संस्कृत नाटक खुद-ब-खुद बिखर गया। इसके लिए इस्लामिक तन्त्र को दोषी ठहराना जायज नहीं है। इस्लाम के लिए नाटक गैर मजहबी था। नाटक की अपेक्षा उनकी रुचि गायन-नृत्य पर अत्यधिक थी। यह भी एक कड़वा सच है कि सत्ता के रहमो-करम पर पलने वाले संस्कृत नाटक में इतना आत्मिक बल भी नहीं था कि स्वतन्त्र रूप से अपनी पहचान बना सके। संस्कृत नाटक खुद अलगाव का शिकार हो गया। अफसोस इस बात पर होता है कि इस विधा से जुड़े लोगों को अपनी आत्मालोचना करने के बजाए, आक्रान्ताओं के माथे ठीकरा फोड़ना ज्यादा आसान नजर आया।

अँग्रेजों ने अपने काल में नाटक से कोई वास्ता नहीं रखा। उन्हें जब अपने मातहत अधिकारियों के मनोरंजन व मन बहलाव की जरूरत महसूस हुई तो वे विलायत से

ऐसी कम्पनियाँ बुलवा लेते थे जो आ कर शेक्सपियर या उनके समकालीन नाटककारों के नाटक मंचित कर देते थे। भले अँग्रेजों ने अपने समय रंगकर्म को राजकीय प्रश्रय न दिया हो, लेकिन जिन नाटकों से उन्हें अपने विरुद्ध कोई आवाज सुनाई देती थी, खिलाफत व बगावत का इशारा तक भी मिलता था तो उसे रोकने से बाज नहीं आते थे। ऐसे साहित्य को जब्त करने से जरा भी नहीं चूकते थे। इसी दिशा में उन्होंने सन् 1876 में ड्रामेटिक परफॉर्मेंस एक्ट भी लाया था। दीनबन्धु मित्र लिखित बांग्ला नाटक 'नील दर्पण' जो किसानों के नील विद्रोह पर केन्द्रित था, इसी एक्ट के तहत प्रतिबंधित कर दिया गया था। पारसी नाटकों में 'कीचक वध', 'वीर अभिमन्यु' जैसे दर्जनों नाटक जो पौराणिक कथाओं के माध्यम से बरतानिया साम्राज्य पर निशाना साध रहे थे, प्रतिबन्धित हुए थे।

आजादी के बाद जब नेहरू के नेतृत्व में काँग्रेस की सरकार बनी तो देश भर में सक्रिय रंगकर्मियों के सम्मुख एक संकट खड़ा हुआ कि सत्ता के साथ कैसा सम्बन्ध हो? सत्ता के साथ जुड़कर नेहरू के आधुनिक विचारधारा को सांस्कृतिक रूप में देश भर में पहुँचाया जाए या अलग रहकर सरकार द्वारा जनतान्त्रिक मूल्यों के हनन को आलोचनात्मक रूप से रखा जाए। यही दो धाराएँ समानान्तर रूप से चल रही थीं। एक तरफ एनयेसडी, दूसरे सत्ता पोषित सांस्कृतिक संस्थाओं द्वारा रंगमंच में आधुनिकतावाद को स्थापित किया जा रहा था तो दूसरी तरफ नुक्कड़ नाटक, जनवादी नाटक को गाँव, सुदूर देहात, शहर के मुहल्ले-नुक्कड़-चौराहों तक ले जा कर किसानों-मजदूरों-छात्रों के आन्दोलन को जन-जन तक पहुँचाया जा रहा था। इसकी धार और त्वरा को उन दिनों कोई राजनीतिक पार्टी न कुंद कर सकी, न इनकी अभिव्यक्ति पर कोई लगाम कस सकी। रंगकर्मियों ने पुलिस उत्पीड़न सहा, जेल भी गये पर नाटक करना बन्द नहीं किया।

लेकिन अभी का परिदृश्य बिलकुल बदला हुआ है। सांस्कृतिक क्षेत्र की बात करें तो इसकी हालत राजनीति से भी खस्ताहाल है। राजनीतिक क्षेत्र में सत्ता की निरंकुशता के विरोध में जगह-जगह सड़कों पर धरना-जुलूस-आन्दोलन दिख रहा है। भले विरोध करने वालों को सरकार व्यक्तिगत स्तर पा चिन्हित कर मनोबल तोड़ने के लिए उन पर राष्ट्रद्रोह का आरोप लगाकर जेल के अन्दर डाल रही हो, उनके घरों पर ईडी का छापा मरवा रही हो, पर विरोध का स्वर कहीं न कहीं से फूट ही रहा है। बड़ी संख्या में पत्रकारों पर तरह-तरह के आरोप जड़कर मनोबल गिराने का प्रयास किया जा रहा है, लेकिन यह कारगर साबित नहीं हो रहा है। अगर किसी पत्रकार को किसी चैनल से निकाला जा रहा है या खुद निकालने के लिए विवश किया जा रहा है तो ऐसे पत्रकारों की एक बड़ी संख्या दिख रही है जो अपनी व्यक्तिगत पहलकदमी से सोशल मीडिया में एक धारा खोज ले रहे हैं जिनसे उनका जनता से सीधा संवाद हो रहा है।

उस नजरिए से मुख्य धारा का रंगमंच गतिशील नहीं दिख रहा है। राजधानी के अलावा महानगरों व छोटे शहरों में पहले रंगमंच पर प्रतिरोध की जिस तरह की धाराएँ दिखती थीं, अब नहीं दिखती हैं। आजादी के बाद गाँव के स्तर पर रंगमंच में बदलाव के जो चिह्न नजर आते थे, वे अब लुप्तप्राय हो गये हैं। अब तो महानगर से छोटे शहर तक एक जैसा रंगमंच दिखता है। जो मिजाज बड़े शहर के रंगमंच में दिखता है, वही छोटे शहरों के रंगमंच में भी। ऐसा लगता है महानगरों के रंगमंच का पासपोर्ट साइज है छोटे शहर का रंगमंच। पहले छोटे शहरों और गाँवों के रंगमंच का एक स्वतन्त्र वजूद हुआ करता था, अब ढूँढ़े नहीं मिलता है। पिछले कुछ वर्षों से संस्कृति विभाग, संगीत नाटक अकादमी और राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय जैसे सरकारी संस्थानों ने केन्द्र और राज्य के स्तर पर सरकारी अनुदानों का ऐसा जाल फैला रखा है कि एक बार लालच वश जो फँसता है, फिर निकल नहीं पाता है। जितना निकलने की कोशिश करता है, उसके पंख उतने ही उलझते जाते हैं। सरकारी अनुदान एक बार जिसे मिल जाता है, उसे पाने के लिए जिस स्तर तक गिरना पड़ता है, वह रंगकर्मी के रीढ़ की हड्डी इतना झुका देता है कि उसके बाद आत्म सम्मान के साथ खड़ा होने की हिम्मत नहीं जुटा पाता है। फिर उसके पास इतनी ही ताकत बची होती है कि वह सत्ता के गलियारे में इधर-उधर चहलकदमी करते रहे, यही काफी है।

अब तक केन्द्र या राज्य में जो भी सरकार आती रहीं, उसने संस्कृति को तवज्जो नहीं दिया। उनको ज्ञात ही नहीं था कि राजनीति की जमीन पुख्ता करने में संस्कृति की कोई भूमिका भी होती है? नेहरू ने जरूर अपने समय में सांस्कृतिक चेतना में वृद्धि हेतु विभिन्न शहरों में प्रेक्षागृह का निर्माण करवाया। आज जितने भी रंग संस्थान देखते हैं, कहीं न कहीं उनकी अवधारणा का ही प्रतिफल है। एक बात और गौर करने की है, इन संस्थानों की अपनी स्वायत्ता होती थी। किस तरह की पढ़ाई हो, किस नाटक के मंचन का निर्धारण हो, इसके लिए संस्थान स्वतन्त्र होता था। नाटकों के चयन के लिए इन संस्थानों को संस्कृति विभाग के आला अफसरों का मुँह नहीं देखना पड़ता था। न उन पर किसी राज सत्ता का कोई दबाव ही रहता था।

आज ऐसा नहीं है। पिछले कुछ वर्षों से सत्ता की अनुमति के बिना किसी भी नाट्य संस्थान का पत्ता तक नहीं हिलता है। आजकल एक नया ट्रेंड आ गया है, सरकार के बदलते सारे शिक्षण संस्थानों के वाइस चांसलर एक सिरे से बदल दिए जाते हैं। स्कूल-कॉलेज के पाठ्य क्रम भी इसी झोंके में उलट-पलटकर दिए जाते हैं। अब इसके दायरे में नाट्य संस्थान भी आ गये हैं। नाट्य संस्थान इनकी नजरों से बचे हुए नहीं हैं। पिछले दिनों सत्ता ने इन नाट्य संस्थानों में चुन-चुनकर अपनी विचारधारा के लोगों को नियुक्त किया है। वैसे तो इनकी पॉकेट में अपनी विचारधारा के ढेर सारे लोग होते हैं। लेकिन इनमें सबसे ज्यादा लॉयल कौन है, विचारधारा के प्रति सबसे कट्टर कौन है, इसकी तलाश में कइयों साल भी लग जाते हैं। जब पात्र को हर तरफ से ठोंक बजा लेते हैं, तभी जेब से निकाल कर रख देते हैं। एनयेसडी के नव निर्मित डायरेक्टर का चयन इसका सबसे नवीन उदाहरण है। वामन केन्द्रे के रिटायर होने के बाद सालों तक सुरेश शर्मा

कार्यकारी निदेशक का पद सँभाले रहे, उनके बाद दिनेश खन्ना और रमेशचन्द्र गौड़ भी निदेशक की कुर्सी पर खड़ाऊ निदेशक के रूप में तब तक आसीन रहे जब तक कि सत्ता का विश्वसनीय, विचारधारा के स्तर पर ठोस, निरीक्षण किया हुआ चितरंजन त्रिपाठी जैसा 'यस मैन' नहीं मिल गया। चितरंजन त्रिपाठी वही निर्देशक हैं जिनके द्वारा निर्देशित और एनयेसडी रंगमण्डल द्वारा भीष्म साहनी लिखित उपन्यास 'तमस' के नाट्य रूपान्तरण को तय तिथि के एक दिन पूर्व अर्जुन मेघवाल और बलबीर पुंज के आदेश पर स्थगित कर दिया गया था। जिस नाटक के मंचन को देश हित में रोक दिया गया था, निदेशक की कुर्सी पर बैठते चितरंजन त्रिपाठी ने प्रेस कॉन्फ्रेंस में ऐलान कर दिया कि इस वर्ष के अन्त तक 'तमस' का फिर से मंचन किया जाएगा। अर्थात् जिस नाटक से देश की शान्ति और अमन-चैन भंग होने की आशंका थी, देश की सहिष्णुता और सद्भाव के भंग होने का खतरा था, चितरंजन त्रिपाठी के नाम की घोषणा के बाद नाटक सारे लगाए गये आरोपों से मुक्त हो गया।

पिछले कुछ वर्षों में एनयेसडी, भारतेन्दु नाट्य अकादमी, मध्य प्रदेश स्कूल ऑफ ड्रामा में निदेशक से लेकर इन संस्थानों में पढ़ाने वाले शिक्षकों की जो बहाली हुई है, उनका आधार योग्यता से अधिक पार्टी की विचारधारा के प्रति आस्था प्रदर्शन महत्त्वपूर्ण और उनके व्यक्तित्व का प्लस पॉइंट रहा है। सत्ता के प्रति निष्ठा रखने वालों को जब यथोचित पुरस्कार मिल जाता है तो केवल पुरस्कृत व्यक्ति का ही मनोबल नहीं बढ़ता है बल्कि दूसरों के लिए भी प्रेरणा दायक साबित होता है। उन्हें लगता है जितना अधिक वे खुद को धार्मिक, पार्टी के करीबी घोषित करेंगे, सत्ता की नजर में अपने लिये भविष्य में कोई पक्की जगह बनाने में सफल साबित होंगे। इसलिए अगर कुछ रंगकर्मियों को सोशल मीडिया में अगर ललाट पर त्रिपुण्ड लगाते या महाकाल की जयघोष लगाते देखे तो इस भ्रम में न पड़ जाएँ कि वह रंगकर्मी धार्मिक हो गया है या धर्म के प्रति आस्थावान हो गया है। जान जाइए कि उसकी निगाहें कहीं और है, निशाना कुछ और है।

पूर्व में इब्राहिम अलकाजी, कारन्त, रामगोपाल बजाज और रतन थियम जैसे डायरेक्टर के सम्मुख शायद ही सत्ता द्वारा दबाव डाले गये होंगे, जैसा इन दिनों देखने को मिलते हैं। अब तो ये हाल है कि इन संस्थानों में कौन से नाटक होने हैं, इनका चयन समिति नहीं करती। करती भी है तो उसे ठण्ढे बस्ते में डाल दिया जाता है। चयनित नाटकों को सत्ता से बगैर संस्तुति लिए करना सम्भव नहीं है। कई बार तो इन सरकारी नाट्य संस्थानों में ऊपर से आदेश आते हैं कि इन विषयों पर नाटक तैयार करें। ये नाटक वैसे होते हैं जो सत्ता की संस्कृति और विचारधारा को सामने लाते हैं। संस्थानिक रंगकर्मी जो शास्त्रीयता का राग अलापते हुए नाटक में प्रचार का पुरजोर खण्डन करते हैं, वे नाट्य संस्थान द्वारा पार्टी प्रचारिकता वाली प्रस्तुतियों पर कुछ नहीं बोलते हैं। अक्सर मौन मुद्रा में समाधिस्थ दिखते हैं। ये कोई संयोग नहीं है कि जिन नाट्य संस्थानों पर सत्ता से लेकर शिक्षण तक कब्जा हो गया है, वहाँ एक एजेंडे के तहत नाट्य प्रशिक्षण हो रहा है। वहाँ एक मकसद से ऐसे नाटकों के मंचन हो रहे हैं। उनका उद्देश्य होता हैं नाटक को समाजिकता से काटकर पौराणिकता पर केन्द्रित करना। पौराणिकता के बहाने लोगों के अन्दर एक संकीर्ण दृष्टिकोण उत्पन्न करना। दूसरे धर्म के प्रति नकारात्मकता पैदा करना ताकि जरूरत पड़ने पर उनसे राजनीति की रोटियाँ सेंकवायी जा सके। ऐसे नाटक अनायास नहीं होते हैं, सत्ता द्वारा निर्देशित होते हैं। ऐसे विषयों के लिए अतिरिक्त राशि, अनुदान भी मुहैया कराये जाते हैं। एनयेसडी, बीएनये, एमपीएसडी जैसे नाट्य संस्थानों में पिछले दिनों दीनदयाल उपाध्याय, श्यामाप्रसाद मुखर्जी और सावरकर जैसे हिन्दुवादी विचारधारा वाले राजनीतिज्ञ और एनआरसी के मुद्दे पर नियोजित ढंग से नाटक किए गये, वे सत्ता द्वारा थोपे गये निर्णयों के ही परिणाम थे। राजनीतिज्ञों का दबाव था कि ऐसे नाटक किए जाएँ। न केवल ऐसे नाटक संस्कृति के केन्द्र में हों, बल्कि ऐसे नाटकों को रोका जाए जो सत्ता की विचारधारा की विरोध में हों। जो नाटक समानता, सद्भाव की बात करता हो, उसे बाहर का रास्ता भी दिखाया जाए। गत भारंगम में पश्चिम बंगाल की एक संस्था की प्रस्तुति 'तितुमीर' को अन्तिम क्षणों में रोक दिया गया क्योंकि उत्पल दत्त के इस नाटक का नायक माइनॉरिटी क्लास का है, स्वतन्त्रता आन्दोलन में उसकी महत्त्वपूर्ण भूमिका का उल्लेख है।

पार्टी का रंगकर्म पर सीधा दबाव देने का यह असर देखने को मिलता है कि प्रस्तुति सिकुड़ी, सहमी सी दिखती है। लगता है किसी ने रंगकर्मियों के हाथ-पैर बाँध रखे हैं। चेहरे सहमे हुए हैं। कुछ बोलना चाहते हैं, पर उनके होंठ जैसे सील दिए गये हों। आज देश भर में रंगकर्म का भी यही हाल है। जिस तरह की बंदिश इन दिनों रंगमंच पर है, रंगकर्मियों ने कभी महसूस नहीं किया। अभिव्यक्ति के माध्यम पर तरह-तरह से अंकुश लगाए जा रहे हैं। सत्ता के खिलाफ रंगकर्मी नाटक करने से सहम रहे हैं। जिस तरह प्रतिरोध करने वाले राजनीतिज्ञों, पत्रकारों, एक्टिविस्टों को झूठे मुकदमों, आरोपों में जेल के अन्दर डाले जा रहे हैं, उनको देखकर रंगकर्मी सकते में हैं, सहमें हुए भी हैं।

दबाव में रंगमंच का चेहरा कैसा हो जाता है, इसे अगर देखना है तो एनयेसडी-बीएनये का उदाहरण सबके सामने हैं। इन संस्थानों की प्रस्तुतियों से लेकर शिक्षण पद्धति में जो गिरावट आयी है, वो किसी से छिपी नहीं है। जिन्हें इन संस्थानों पर कभी नाज था, आज अपनी विकृत-बदसूरत चेहरा को खुद अपने से छिपाते नजर आते हैं।

गौरवशाली इतिहास को कब तक दुहराते रहेंगे? सत्ता के दबाव ने रंगमंच की जो हालात बना रखी है, उस पर कब चर्चा करेंगे? जो गुनहगार हैं, उन्हें कठघरे में कब खड़ा करेंगे? ये एक गम्भीर सवाल है, इसे किसी भी हाल में नजरअन्दाज नहीं कर सकते। आज नहीं तो कल इन जलते प्रश्नों से टकराना ही होगा। आप जवाब नहीं देंगे तो एक दिन इतिहास आपसे पूछेगा। तब आप क्या जवाब देंगे?

■

क्योंकि कविता उपभोग का सामान नहीं होती

प्रियदर्शन

कविताघर

कविता लिखने की कोशिश अपने भीतर-बाहर को समझने, व्यक्त करने और कभी-कभी अनजान या सचेत ढंग से बदलने की कोशिश भी है। यह बात कुछ अमूर्त या उलझी हुई सी लग सकती है, लेकिन इस पर कुछ ठहर कर विचार करने की जरूरत है। कुँवर नारायण लिखते हैं—'घर रहेंगे, हमीं उनमें न रह पाएँगे / समय होगा, हम अचानक बीत जाएँगे।' जीवन की व्यर्थता और मृत्यु की अपरिहार्यता के बीच ठिठकी यह कविता क्यों छूती है? क्योंकि वह मजबूर करती है कि हम इन पंक्तियों पर रुकें, इन्हें देखें और समझने की कोशिश करें कि इनमें कितना हमारा सच है और कितना हमारा समय।

आपको कैसी कविता पसन्द आती है? या आपको कौन से कवि पसन्द आते हैं? ये दोनों सवाल पूछने वाले और इनके बहुत सटीक जवाब दे सकने वाले लोग दरअसल जाने-अनजाने कविता को उसके न्यूनतम इस्तेमाल की ओर ले जाते हैं। निस्सन्देह वे कविता के रसिक और पाठक होते हैं, लेकिन वे यह नहीं जानते कि कविता किसी के उपयोग या उपभोग का सामान भर नहीं है। वह इसलिए नहीं लिखी जाती कि उससे एक चमकदार पँक्तियों का पैकेज बनाया जाए, जिसे याद कर लिया जाए और हर उपयुक्त मौके पर एक रस्म की तरह इस्तेमाल किया जाए। इसलिए वे प्रेम कविता या वीर रस की कविता या किसी और तरह की कविता को पसन्द करने की बात करते हैं या कुछ कवियों को अपनी पसन्द बताते हैं।

लेकिन ऐसा करते ही शब्द बच जाते हैं और कविता नष्ट हो जाती है—या कम से कम वह अपने अर्थों में बहुत सीमित हो जाती है। यह कुछ वैसा ही कृत्य है जैसा इन दिनों संगीत की बहुत सारी यादगार धुनों या सिंफनियों के साथ हो रहा है—वे मोबाइल फोन के कॉलर ट्यून का हिस्सा हैं और अपना जादू खो चुकी हैं।

हालाँकि कविता के सन्दर्भ में यह कोई अन्तिम सत्य नहीं है। यह सच है कि हम सबके कुछ प्रिय कवि होते हैं और कुछ पसन्दीदा कविताएँ होती हैं—ऐसी कविताएँ जो उम्र भर हमारा पीछा नहीं छोड़तीं, हमारी स्मृति में कुछ इस तरह गड़ी रहती हैं कि जब हम सब कुछ भूल रहे होते हैं तब भी कुछ हिलती-डुलती पँक्तियाँ हमारे अवचेतन को आकार दे रही होती हैं।

दरअसल समझने की जरूरत यह है कि कविता का कोई एक प्रकार या कुछ प्रकार नहीं होते। वह बस कविता होती है—बेशक हम उसे अपनी सुविधा के हिसाब से अलग-अलग खानों में बाँट लेते हैं, कुछ उसी तरह जैसे समय विभाजित नहीं होता, वह एक निरन्तर प्रवाहमान अदृश्य उपस्थिति है, लेकिन हमने उसे बिल्कुल ठोस रूप में इस तरह बाँट डाला है कि हम एक-एक क्षण पर उँगली रखकर बता सकते हैं कि यह वह घड़ी थी जब साँस अटकी थी और यह वह घड़ी थी जब जीवन निःशेष हुआ था।

निस्सन्देह समय के ऐसे विभाजन की तरह कविता का विभाजन सम्भव नहीं। लेकिन दरअसल कविता भी समय की तरह एक अदृश्य उपस्थिति ही है जिसे हम शब्दों के कल-काँटों से पकड़ने की कोशिश करते हैं। कविता लिखने की कोशिश अपने भीतर-बाहर को समझने, व्यक्त करने और कभी-कभी अनजान या सचेत ढंग से बदलने की कोशिश भी है। यह बात कुछ अमूर्त या उलझी हुई सी लग सकती है, लेकिन इस पर कुछ

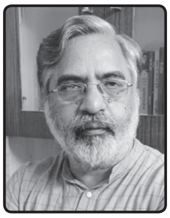

लेखक एनडीटीवी में वरिष्ठ कार्यकारी सम्पादक हैं।
+919811901398
priyadarshan.parag@gmail.com

ठहर कर विचार करने की जरूरत है। कुँवर नारायण लिखते हैं–'घर रहेंगे, हमीं उनमें न रह पाएँगे / समय होगा, हम अचानक बीत जाएँगे।' जीवन की व्यर्थता और मृत्यु की अपरिहार्यता के बीच ठिठकी यह कविता क्यों छूती है? क्योंकि वह मजबूर करती है कि हम इन पंक्तियों पर रुकें, इन्हें देखें और समझने की कोशिश करें कि इनमें कितना हमारा सच है और कितना हमारा समय। आखिर वे कौन से घर हैं जो हमसे छूट जाएँगे? और यह 'हम' कौन हैं जो समय के रहते भी बीत जाएँगे? अचानक यह कविता एक बड़े प्रश्न और बड़े यथार्थ के सामने हमें खड़ा कर देती है–उस अस्तित्ववादी प्रश्न के आगे, जिसमें अपने होने का अर्थ भी समझ में आता है और अपने बीतने का अर्थ भी।

ऐसी कविताएँ ढेर सारी हैं। ऐसा नहीं कि सब अस्तित्ववादी प्रश्नों से जूझती हों। लेकिन सबके अपने प्रश्न होते हैं, सबके भीतर उनका समय और समाज होता है, उसकी स्मृति होती है। कुँवर नारायण की कविता एक तरह से समय को सम्बोधित करती है तो केदारनाथ सिंह की कविता दूसरी तरह से। धूमिल अगर विस्फोट की तरह अपने समय पर टूटते हैं तो मुक्तिबोध में किसी अन्तःस्फोट की तरह एक मानवीय चीख अपना समय ढूढ़ती है। रघुवीर सहाय का बौद्धिक चौकन्नापन अलग तरह की कविता रचता है और श्रीकान्त वर्मा की संवेदनशील चुप्पी अलग तरह की। आलोकधन्वा के काँपते बिम्ब अगर एक उदात्त कविता बनाते हैं तो मंगलेश डबराल की सहज ऊष्मा एक अलग मानवीय चेतना का स्पर्श करती है। यह बहुत सम्भव है कि (मेरी तरह के) किसी पाठक को कुँवर नारायण भी अच्छे लगें और केदारनाथ सिंह भी, रघुवीर सहाय भी अच्छे लगें और श्रीकान्त वर्मा भी, धूमिल भी खींचें और मुक्तिबोध भी छुएँ और मंगलेश डबराल और आलोकधन्वा दोनों अलग-अलग ढंग से प्रभावित करें।

हालाँकि यह फिर इतना आसान नहीं है। पसन्द करना एक बात है और सीमाओं को पहचानना दूसरी बात। यानी कोई सजग पाठक कुँवर नारायण की कविता की बहुत मार्मिक और मानवीय ध्वनियों से परिचित होते हुए भी कभी-कभी सूक्तियों की ओर बढ़ने और किसी स्थूल सत्य को किसी चमकीली भाषा में कहने की उनकी शैली को पहचान सकता है, या फिर केदारनाथ सिंह की ग्रामगंधी स्मृतिजीविता पर प्रश्न खड़े कर सकता है या फिर धूमिल की अराजकता और मुक्तिबोध के उलझाव को लेकर असन्तुष्ट रह सकता है या फिर आलोकधन्वा और मंगलेश डबराल की राजनीतिक चेतना को लेकर गम्भीर ढंग से विचार कर सकता है।

तो कविता कोई इकहरी चीज नहीं होती। उसके कई रूप होते हैं। वह हर रूप में पसन्द आ सकती है। लेकिन इसकी दो शर्तें हैं–एक तो यह कि वह अपने अनुभव और अपनी अभिव्यक्ति में उस आन्तरिक सत्य को व्यक्त करे जिसे कवि ने अपने श्रम से, अपनी सम्वेदना से अर्जित किया है। दिए हुए सत्य को नयी भाषा में लिख देना एक विचार को कविता में डाल देने जैसा है, उस वास्तविक कविता जैसा नहीं जो कुछ विचार को बदल सकती है और कुछ व्यक्ति को।

दूसरी बात यह कि वह अपनी विधागत प्रवृत्ति में कविता होने की शर्त पूरी करे। किसी एक बड़े अनुभव या सत्य को लेख में भी लिखा जा सकता है, कहानी में भी ढाला जा सकता है, लेकिन हम फिर कविता क्यों लिखते हैं? क्योंकि कविता में ही यह सम्भव है कि वह अनुभूत सत्य अपनी तरलता में लगभग सुरक्षित रहते हुए हुए कवि से पाठक तक चला आए, उसके अपने अनुभव में ढल जाए, बल्कि वहाँ जाकर वह और विस्तारित हो। इस प्रक्रिया में शब्द जितने जरूरी होते हैं, चुप्पियों के अन्तराल भी उतने ही अपरिहार्य होते हैं। लगातार बोलते रहने से तुकबन्दी हो सकती है, लगातार घोषणाओं से नारे बन सकते हैं, सूक्तियाँ बन सकती हैं, लेकिन कविता नहीं बन सकती। कविता धीरे-धीरे बढ़ती है, जहाँ वह बहुत तेज गति से बढ़ती है, वहाँ भी अपने लिए एक अन्तराल बचाए रखती है।

इन दोनों बातों के अलावा एक तीसरी बात भी है। कविता दुनिया को एक नयी आँख से देखने की कोशिश भी है। वह असम्भव की कल्पना है और कल्पनातीत का सम्भवीकरण है। वह विस्मय से जन्म लेती है और अन्तर्दृष्टि से बड़ी होती है। जब रघुवीर सहाय कहते हैं, 'देखो वृक्ष को, वह कुछ कर रहा है / किताबी होगा कवि जो कहेगा हाय पत्ता झर रहा है' तो वह ऐसी ही नयी आँख का सृजन कर रहे होते हैं। पेड़ को कर्ता के रूप में देखने का एक बड़ा मतलब है–अपने पर्यावरणीय लोकतन्त्र के प्रति बहुत सूक्ष्म किस्म के संवेदनशील प्रस्ताव का। दिलचस्प यह है कि 'झरने लगे नीम के पत्ते, बढ़ने लगी उदासी मन की' लिखने वाले कवि केदारनाथ सिंह अपने अन्तिम संग्रह 'मतदान केन्द्र में झपकी' तक आते-आते घास को अपने लोकतन्त्र का प्रतिनिधि घोषित करते हुए उसके पक्ष में मतदान करने की अपील करते नजर आते हैं।

यह होती है कवि दृष्टि जो कभी-कभी कविता के भीतर इतनी छुपी हुई होती है कि उसे एक पाठक को डूबकर निकालना पड़ता है। इस प्रयत्न से पाठक ही समृद्ध नहीं होता, कविता भी समृद्ध और सार्थक होती है।

बेशक, यह दोनों काम आसान नहीं हैं– ऐसा कवि बनना जो असम्भव में भी सम्भव की तलाश करता दिखे और ऐसा पाठक होना जो दिए हुए सम्भव कोनों में उस असम्भव को खोज निकाले जो उसके छू लेने से ही अस्तित्व में आया है। कविता बहुत दूर तक अपने शब्दों और अर्थों के परे उस स्पर्श का भी मामला है जिसमें उसके कई अर्थ प्रकाशित होते हैं और कई नये अर्थ सृजित होते हैं।

फिर दुहराना होगा–इसके लिए कविता को बनाने से पहले खुद को तोड़ना पड़ता है। मुक्तिबोध ताउम्र जैसे खुद को तोड़-तोड़कर कविता में बदलते रहे, अपनी यातना और अपनी हँसी दोनों के बहुत मार्मिक योग से वह असम्भव-अधूरी कविता लिखते रहे जिसे हम आज तक पढ़ने और समझने में लगे हुए हैं। रघुवीर सहाय पर लौटते हैं जिन्होंने इस बात को कुछ स्पष्ट शब्दों में कहा है–'अपनी एक मूर्ति बनाता और ढहाता हूँ / और आप कहते हैं कि कविता की है।'

तो अपनी मूर्ति बनाने और ढहाने के बीच सम्भव होती कविता और उसके पाठ के विभिन्न पहलुओं पर यह चर्चा जारी रहेगी। ■

जी-20 के सदस्य के रूप में अफ्रीकी संघ

रूबल रानी शर्मा

शोध लेख

नयी वैश्विक व्यवस्था में एक महत्त्वपूर्ण भागीदार के रूप में अफ्रीकी संघ (एयू) की जी 20 में सदस्यता समकालीन अफ्रीका को मानव जाति के घर के रूप में मान्यता देती है। 1.3 अरब निवासियों और युवा जनसांख्यिकी के साथ एक प्राकृतिक संसाधन से भरपूर अफ्रीका महाद्वीप विश्व के सभी मामलों में एक बड़ी भूमिका निभाने के लिए उत्सुक रहा है। यूरोपीयन संघ के बाद जी-20 में शामिल होने वाला अफ्रीकी संघ दूसरा क्षेत्रीय संगठन है।

लेखिका माता सुंदरी कॉलेज, दिल्ली के राजनीति विज्ञान विभाग में एसोसिएट प्रोफेसर हैं।

roublemscw@gmail.com

भारत ने अपनी अध्यक्षता में आयोजित जी-20 सम्मेलन में अफ्रीका महाद्वीप के 55 देशों के समूह अफ्रीकी संघ (एयू) को जी-20 के स्थायी सदस्य के रूप में प्रवेश का जोरदार प्रस्ताव पेश किया। इस सम्मेलन में नाइजीरिया, मिस्र और मॉरीशस को भी आमन्त्रित किया गया। एयू की सदस्यता को अमेरिका, रूस और चीन जैसे बड़े देश, जो अफ्रीका के एक महत्त्वपूर्ण आर्थिक और वाणिज्यिक भागीदार हैं, का भी समर्थन मिला। परिणामतः वर्ष 2023 में दुनिया की प्रमुख अर्थव्यवस्थाओं के समूह जी-20 में अफ्रीकी संघ (एयू) को स्थायी सदस्यता दी गयी। दुनिया के इस प्रतिष्ठित अन्तरराष्ट्रीय संघ में एक नये सदस्य के रूप में एयू का जी-20 में प्रवेश अफ्रीका महाद्वीप के इतिहास में एक महान ऐतिहासिक घटना के रूप में याद किया जाएगा। जी-20 की सदस्यता अफ्रीकी संघ को क्षेत्रीय और महाद्वीपीय आर्थिक एकीकरण की प्रक्रिया को तेज करने के लिए जीवन में एक बार मिलने वाला मौका प्रदान करता है, जिससे अफ्रीका वैश्विक अर्थव्यवस्था में तेजी से बदलती परिस्थितियों का सामना करने में सक्षम हो सके। एयू की सदस्यता न केवल अफ्रीका महाद्वीप बल्कि भारत के लिए भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। भारत ने 2015 में भारत-अफ्रीका फोरम सम्मेलन आयोजित किया था और इस बैठक में 40 अफ्रीकी नेताओं ने भाग लिया था। तब से एयू सदस्य देशों में भारत ने कई अतिरिक्त राजनयिक पद खोले हैं। भारत अपनी उपस्थिति को अफ्रीका में बढ़ा रहा है, ताकि दुनिया के बाकी हिस्सों को यह जताया जा सके कि बदलाव के इस दौर में जी-20 में वैश्विक दक्षिण की भूमिका केवल बातचीत नहीं, बल्कि क्रियान्वयन की ओर अग्रसर है।

संकेत शब्द : अफ्रीकी यूनियन, वैश्विक व्यवस्था, वैश्वीकरण, जी20, ग्लोबल साउथ

परिचय

अफ्रीकी संघ (एयू) के लिए जी-20 में सदस्यता अपने आप में इस महाद्वीप को एक वैश्विक शक्ति के रूप में मान्यता देने की दिशा में एक कदम है। एयू का मुख्य लक्ष्य अफ्रीका के सभी नागरिकों के लिए सुरक्षा और शान्ति की मजबूत नींव प्रदान करना रहा है। जीवन के सभी क्षेत्रों में अपने उद्देश्यों को पूरा करने के लिए अफ्रीका के निवासियों के पास अब अफ्रीकी संघ (एयू) की बदौलत एक ओर महाद्वीप को एक प्रभावी और संस्थागत संरचना प्रदान करने का एक महत्त्वपूर्ण मौका मिला है, वही दूसरी ओर जी-20 में भागीदारी से अफ्रीका के प्रभाव को बढ़ाने का स्वर्णिम अवसर भी मिल रहा है। पूरे विश्व में यूरोपीय संघ के बाद अफ्रीकी संघ जी-20 में शामिल होने वाली दूसरी क्षेत्रीय शक्ति है। अफ्रीका संघ को अधिक मजबूत, ठोस और टिकाऊ आधार पर स्थापित करने के लिए इसे अन्तरराष्ट्रीय मंच मिलना बेहद महत्त्वपूर्ण है।

परिणामस्वरूप, जी-20 और वैश्विक दक्षिण दोनों की आवाज अन्तरराष्ट्रीय मंचों पर अब अधिक मजबूत होती दिखाई दे रही है।

जी-20 के सदस्य के रूप में यह संघ वैश्विक प्रक्रिया में भागीदारी के साथ-साथ अफ्रीका महाद्वीप के लोगों को विकास के नये अवसर भी प्रदान करेगा। अफ्रीकी देश जी-20 का सदस्य बनने पर जलवायु परिवर्तन और कर्ज जैसे मसलों पर अपनी बात ज्यादा जोरदार तरीके से रख सकेंगे। इसके लिए अफ्रीका की राजनीतिक अर्थव्यवस्थाओं को मौलिक रूप से नया आकार देने, विकास प्रक्रिया के लोकतान्त्रिकीकरण और एक नयी राष्ट्रीय और क्षेत्रीय आर्थिक व्यवस्था की शुरूआत की आवश्यकता होगी। जी-20 में अफ्रीकी सहभागिता का यह विचार और दृढ़ विश्वास कि यह वास्तव में अफ्रीकी सदी होगी, अफ्रीका के पुनर्जन्म और कायाकल्प पर प्रकाश डालता है। अखिल अफ्रीका के स्वप्न को साकार करने वाला यह व्यापक विचार महाद्वीप के गौरवमयी इतिहास और समृद्ध संस्कृति से प्रेरित है। इन अथक प्रयासों का लक्ष्य बुनियादी स्तर पर हर किसी के जीवन की गुणवत्ता को बढ़ाना होना चाहिए, न कि केवल ऐसी स्थितियाँ बनाना जो केवल संघर्ष को रोकें। एयू के कर्त्तव्यों में अफ्रीका के सभी राज्यों को एकीकृत करके राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक विकास शामिल है।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

अफ्रीकी संघ (एयू) ने अफ्रीकी एकता संगठन, (ओएयू) जो लगभग 1968 (38 वर्षों) तक अस्तित्व में रहा, का वर्ष 2002 में स्थान ले लिया। निस्सन्देह, ओएयू का एयू में रूपान्तरण वर्तमान सहस्त्राब्दी में अफ्रीकी महाद्वीप के लिए एक महत्त्वपूर्ण मील का पत्थर था। लीबिया के शासक मोअम्मर गद्दाफी ने अफ्रीका के विकास को तेज करने के लिए एयू को एक अधिक उपयोगी उपकरण के रूप में समर्थन दिया। एयू की स्थापना अफ्रीकी देशों और पूरे महाद्वीप के लोगों की आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक जागरूकता पर आधारित थी। यह अवसर संयुक्त राज्य अफ्रीका (यूएसए) के महान, पुरातन विचार को साकार करने में एक महत्त्वपूर्ण मोड़ था। शीत युद्ध की समाप्ति के बाद से अफ्रीकी देशों ने नये मुद्दे और चुनौतियाँ का सामना किया; जिनमें गरीबी, अस्थिरता, प्राकृतिक आपदाएँ, एड्स, मलेरिया और महामारी जैसी बीमारियाँ शामिल हैं। ओएयू अपनी स्थापना के बाद से ही अफ्रीका में विशेष रूप से अंगोला, कांगो और सिएरा लियोन में होने वाले संघर्ष को नियन्त्रित करने में बुरी तरह विफल रहा था। अफ्रीकी एकता को बढ़ावा देना, उपनिवेशवाद के सभी रूपों को खत्म करना और अफ्रीकी लोगों की सामाजिक उन्नति पर जोर देना ओएयू का महान लक्ष्य रहा था। ओएयू का एयू में परिवर्तन आधिकारिक तौर पर 9 सितम्बर, 1999 को शुरू हुआ, जब सिर्ते, लीबिया में ओएयू की चौथी असाधारण बैठक के दौरान सिर्ते घोषणा की पुष्टि की गयी। अन्ततः जुलाई 2000 में लोम, टोगो में एक शिखर सम्मेलन के दौरान अगले कदम के रूप में एयूसीए को मंजूरी दे दी गयी। लोम संधि, जिस पर 26 मई 2001 को हस्ताक्षर किए गये थे, ने आधिकारिक तौर पर अफ्रीकी संघ की स्थापना की। सिर्ते में ओ ए यू के पाँचवें असाधारण शिखर सम्मेलन में, मोरक्को को छोड़कर ओ ए यू के सभी 53 सदस्य देशों ने अफ्रीकी संघ संविधान अधिनियम (AUCA) पर हस्ताक्षर किए थे।[1] 1950 के अन्त और 1960 के प्रारम्भ से उस समय उभरते हुए अफ्रीकी नेता जैसे कि क्वामे नक्रूमा, जोमो केन्याटा, सेकाउटूस, हैले सलासी और जूलियस न्येरेरे, जो पैन-अफ्रीकीवाद के महान आदर्श से प्रभावित थे, ने संयुक्त राज्य अफ्रीका (यूएसए) की धारणा बनायी थी।[2] अन्ततः अविकसितता, फूट, भारी ऋण और विश्व मामलों में महाद्वीप के हाशिए पर होने के कारण अफ्रीकी देशों को अधिक सुसंगत तरीके से एक साथ जोड़ने के विचार को पुनर्जीवित किया गया। अब यह स्पष्ट हो गया था कि, अपने संगठन, संरचना और कठोरता के कारण, ओ ए यू महाद्वीप की जरूरतों का जवाब देने में असमर्थ था। इन नेताओं ने सर्वसम्मति से अफ्रीकी संघ के संवैधानिक अधिनियम को अपनाकर और इसकी पुष्टि करके सामाजिक-आर्थिक विकास में तेजी लाने के लिए अपनी चिन्ता व्यक्त की।[3] अफ्रीकी संघ के अस्तित्व में आने के बाद लोगों के बीच एकता और एकजुटता को बढ़ावा देने के लिए सरकारों, निजी क्षेत्र और नागरिक समाज के बीच साझेदारी बनाना और सशस्त्र संघर्षों के उन्मूलन के लिए काम हुआ है। इस दौरान सभी अफ्रीकियों की प्राथमिक चिन्ता महाद्वीप की राजनीतिक और आर्थिक एकता रही जो कि अफ्रीकी लोगों के लिए एक बड़ी रचनात्मक चुनौती भी थी। अफ्रीका को राजनीतिक और आर्थिक मानदण्ड स्थापित करने के लिए एक शक्तिशाली संघ की आवश्यकता थी जिसके द्वारा अफ्रीकी प्रशासन की प्रभावशीलता का निष्पक्ष मूल्यांकन किया जा सके। एयू की परियोजना के पीछे की विचारधारा पैन-अफ्रीकीवाद थी, जिसमें अफ्रीका की व्यापक एकता के लिए राष्ट्रीय सम्प्रभुता का एक हिस्सा समर्पण करने की इच्छा शामिल थी। यूरोपीय संघ (ईयू) के अनुभव ने एयू की अवधारणा को काफी हद तक प्रभावित किया। यूरोपीय संघ के नागरिकों की मुक्त आवाजाही की गारण्टी है, एक एकल कृषि नीति है, और एक आम मुद्रा है, जैसा कि यूरोपीय संघ द्वारा प्रदर्शित किया गया है। अफ्रीका के नेताओं ने माना कि यूरोपीय संघ ऐसा कर सकता है तो अफ्रीका क्यों नहीं?[4] अन्ततः अफ्रीका के सभी देश, या कहें कि वैश्विक दक्षिण के आधे से अधिक देश एयू में शामिल हो गये। एयू का संगठनात्मक ढाँचा लगभग यूरोपीय संघ की ही तरह तैयार किया गया। अफ्रीकी संघ की पहली मुख्य संस्था असेंबली है जो राज्य व सरकार के प्रमुखों या उनके अधिकृत प्रतिनिधियों से बनी होती है, और अफ्रीकी संघ के लिए निर्णय लेती है दूसरी अखिल अफ्रीकी संसद है जो अफ्रीका महाद्वीप के सामने आने वाले मुद्दों और कठिनाइयों को सम्बोधित करने के लिए एक मंच प्रदान करती है। यह अफ्रीकी संघ का आयोग है जो एयू संगठनों और सदस्य राज्यों को उन नीतियों को लागू करने में सहायता करता है जिन पर विधानसभा द्वारा सहमति व्यक्त की गयी है। तीसरी, कार्यकारी परिषद है जो राज्यों के मन्त्रियों से बनी है और एयू नीति के कार्यान्वयन की देखरेख करती है। फिर ग्यारह समितियाँ हैं जो विशिष्ट विषयों पर केन्द्रित हैं। चौथी, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परिषद है जो गैर-सरकारी संगठनों, समुदाय-आधारित संगठनों और सांस्कृतिक संगठनों सहित नागरिक समाज की तरफ से एयू को सिफारिशें प्रदान करती है। इनके अलावा

संघर्षों के बारे में निर्णय लेने वाली एक और संस्था शान्ति और सुरक्षा परिषद है।[5] इसके माध्यम से, एयू के सदस्य देश सामूहिक रूप से संकट और संघर्ष स्थितियों की निगरानी करते हैं और निर्णय लेते हैं।

इस प्रकार इक्कीसवीं सदी और वैश्वीकरण की चुनौतियों से निपटने के लिए बेहतर विकल्प के साथ-साथ अफ्रीकी संघ सकारात्मक परिवर्तन की एक महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया के रूप में अस्तित्व में आया था।

अफ्रीकी संघ को अब तक मिली सफलताएँ

एयू के कूटनीतिक प्रयास कई मौकों पर सफल रहे हैं। अफ्रीकी संघ ने अपने राज्यों के राजनीतिक, आर्थिक और कॉर्पोरेट प्रशासन से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों को लागू किया और वर्ष 2003 में मोजाम्बिक में अफ्रीकी संघ प्रमुखों के शिखर सम्मेलन में, अफ्रीकी नेताओं ने आर्थिक परिवर्तन के लिए अफ्रीका के विकास के लिए नयी साझेदारी (एनयीपीएडी) रोड मैप का समर्थन किया। अफ्रीका के निरन्तर विकास की गारण्टी के लिए मूलभूत तत्व शान्ति और स्थिरता हैं। वास्तव में, एयू और एनयीपीएडी इक्कीसवीं सदी की विकासात्मक चुनौतियों से निपटने के लिए अफ्रीकी देशों की राजनीतिक एकता और सामाजिक–आर्थिक सुधार के लिए दो रणनीतियाँ थीं। एनयीपीएडी कार्यक्रम का निष्पादन और एयू का संचालन आपस में जुड़ा हुआ है। एयू आयोग में महिलाओं का आरक्षण तथा एयू आयोग की अध्यक्ष, संघ की कार्यकारी संस्था, उपाध्यक्ष और आठ आयुक्तों का चुनाव एक और महत्त्वपूर्ण चरण माना गया था। जब इसके किसी सदस्य देश में युद्ध अपराध, नरसंहार और मानवता के खिलाफ अपराध होते हैं, तो अफ्रीकी संघ के पास सैन्य रूप से कार्य करने की शक्ति होती है। इसे हासिल करने के लिए समूह ने बार-बार शान्ति मिशन चलाए हैं। संयुक्त राष्ट्र (यूएन) मिशन अक्सर अफ्रीकी संघ (एयू) के शान्ति अभियानों के साथ सहयोग करते आए हैं। इसके अतिरिक्त, अफ्रीकी संघ पूरे महाद्वीप में लोकतन्त्र की रक्षा करने में प्रभावी रहा है। इस प्रकार एयू के शान्ति–स्थापना के प्रयासों ने न केवल आतंकवाद से लड़ने में सरकारों की सहायता की है बल्कि अपने राजनयिक प्रयासों के परिणामस्वरूप अफ्रीका के कई देशों में चल रहे संघर्षों का भी समाधान किया गया। एयू ने पिछले वर्ष इथियोपियाई सरकार और दक्षिण अफ्रीका में टाइग्रन पीपुल्स लिबरेशन फ्रंट (टीपीएलएफ) के बीच शान्ति समझौते पर बातचीत करने में भी मदद की।[6] वर्ष 2021 में अफ्रीकी महाद्वीपीय मुक्त व्यापार क्षेत्र (एएफसीएफटीए) का निर्माण संगठन की एक और उपलब्धि है, जिसका उद्देश्य अन्तर-अफ्रीकी व्यापार को बढ़ावा देना है।

जी–20 के सदस्य के रूप में अफ्रीकी संघ की नयी शुरूआत तथा भारत को इससे लाभ

नयी वैश्विक व्यवस्था में एक महत्त्वपूर्ण भागीदार के रूप में अफ्रीकी संघ (एयू) की जी-20 में सदस्यता समकालीन अफ्रीका को मानव जाति के घर के रूप में मान्यता देता है। 1.3 अरब निवासियों और युवा जनसांख्यिकी के साथ एक प्राकृतिक संसाधन से भरपूर अफ्रीका महाद्वीप विश्व के सभी मामलों में एक बड़ी भूमिका निभाने के लिए उत्सुक रहा है। यूरोपीयन संघ के बाद जी-20 में शामिल होने वाला अफ्रीकी संघ दूसरा क्षेत्रीय संगठन है। अब तक केवल दक्षिण अफ्रीका ही इस समूह का एकमात्र सदस्य था। बाकी सभी अफ्रीकी देश पिछले कई वर्षों से जी-20 सदस्यता के लिए माँग कर रहे थे। 2010-2020 के दशक में भारत ने अफ्रीका में अपने कूटनीतिक प्रयास बढ़ाये हैं। वर्ष 2015 में भारत-अफ्रीकी फोरम सम्मेलन में भारत ने सुझाव दिया था कि ग्लोबल साउथ में अफ्रीका महाद्वीप को अधिक प्रतिनिधिक बनाने के लिए अफ्रीकी संघ को जी-20 में शामिल किया जाना चाहिए। अभी तक जी-20 में अफ्रीकी संघ को 'आमन्त्रित अन्तरराष्ट्रीय संगठन' के रूप में भाग लेने का अवसर मिलता था। वर्ष 2023 में आयोजित जी-20 सम्मेलन में भारत के प्रधान मन्त्री ने एयू की जी-20 में स्थाई सदस्यता पर जोर दिया। अफ्रीकी संघ की सदस्यता के भारत के प्रस्ताव पर अमेरिका, फ्रांस और चीन सहित महत्त्वपूर्ण देशों ने समर्थन किया।[7] जी-20 में अफ्रीकी संघ को शामिल करने के भारत के प्रस्ताव की स्वीकृति वास्तव में भारत के लिए विश्व कूटनीति में एक महत्त्वपूर्ण जीत है। यह न केवल एयू के आने वाले कल में सुधार करता है बल्कि एक अधिक न्यायपूर्ण और प्रतिनिधि अन्तरराष्ट्रीय प्रणाली के साथ खड़े होने वाले देश के रूप में भारत की छवि को भी बढ़ाता है। यह जी-20 के लोकाचार की संस्कृति के साथ तालमेल भी दिखाता है, जिसका उद्देश्य विश्व अर्थव्यवस्था की समस्याओं का मिलकर समाधान करना है।[8]

भारत का यह निर्णय एक ऐसे भविष्य की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण कदम हैं जो यूएनयेससी में भारत की स्थायी सदस्यता की इच्छा में अफ्रीका के 55 देशों का वोट हासिल करेगा।[9] एयू एक ऐसे महाद्वीप का प्रतिनिधित्व कर सकता है जो पूर्ण जी-20 भागीदारी रखते हुए, दुनिया के सबसे बड़े मुक्त व्यापार क्षेत्र का मुख्य स्थान है। ग्लोबल इंस्टीट्यूट फॉर सस्टेनेबल प्रॉस्पेरिटी के अध्यक्ष फधेल कबूब ने माना कि, ''एयू जी-20 में अपनी स्थायी सीट का उपयोग करके पूरी दुनिया के लिए जीत का रास्ता तैयार करने को तत्पर है।'' केन्या के राष्ट्रपति विलियम रूटो ने भी कहा कि जी-20 में अफ्रीकी संघ के आने से अफ्रीकी हितों को आवाज और दृश्यता दोनों मिलेगी।[10]

अफ्रीका महाद्वीप दुनिया के 60% नवीकरणीय ऊर्जा संसाधन, 30% से अधिक निम्न-कार्बन प्रौद्योगिकियों के लिए आवश्यक खनिज भंडारों का स्रोत हैं। अफ्रीका की आर्थिक प्रगति पर हाल ही में जारी संयुक्त राष्ट्र के आकलन के अनुसार, अकेले कांगो के पास दुनिया का लगभग आधा कोबाल्ट है, जो लिथियम-आयरन बैटरी के लिए एक आवश्यक धातु है।[11] अफ्रीका ने जी-20 सदस्य देशों से महाद्वीप के संसाधनों का उपयोग करके वस्तुओं का उत्पादन करने के लिए कहा ताकि औद्योगीकरण के विकास में उनकी भागीदारी बढ़ सके और उन समस्याओं का समाधान किया जा सके, जिनका सामना आज का अफ्रीका महाद्वीप कर रहा है। इसके लिए एयू को कुशलतापूर्वक अपने संसाधनों का प्रबन्धन करना होगा क्योंकि जी-20 सदस्य देशों के साथ ये अफ्रीका के नये अध्याय की शुरूआत है। अफ्रीका महाद्वीप के तेजी से बदलते राजनीतिक और आर्थिक परिवेश को एयू की क्षमताओं द्वारा सम्भव बनाया जाना चाहिए।[12]

अफ्रीकी नेताओं और नीति निर्माताओं, अकादमिक सिद्धान्तकारों और व्यावहारिक कार्यकर्ताओं, निजी क्षेत्र और नागरिक समाज के अधिकारियों के बीच अब यह विश्वास बढ़ रहा है कि वैश्वीकरण की दुनिया और व्यापारिक गुटों में विश्व की शक्तिशाली अर्थव्यवस्थाएँ अफ्रीकी संघ के साथ है। ये ऐसे कारक हैं जो एयू को मजबूती से आशा का आधार देते हैं। एक सफल अफ्रीकी संघ दुनिया भर के एकीकरण अनुभवों को एकत्र और साझा करता है। यह सच है कि अफ्रीका के नागरिकों में एयू के जी-20 में शामिल होने से बड़ी आकांक्षाएँ पैदा हुई हैं।

आज का अफ्रीका बहुत तेजी से वैश्विक शक्तियों का पूँजी निवेश की ओर राजनीतिक ध्यान आकर्षित कर रहा है। चीन तो पहले ही अफ्रीका के सबसे बड़े ऋणदाताओं और प्रमुख व्यापारिक साझेदारों में से एक रहा है। अब खाड़ी देशों से भी अफ्रीका महाद्वीप पर सबसे बड़े निवेशक आने लगे हैं।

जी-20 के स्थाई सदस्य के रूप में अफ्रीकी संघ का भविष्य की चुनौतियाँ व चिन्ताएँ

अफ्रीकी संघ के सामने सामाजिक-आर्थिक विकास, शान्ति, सुरक्षा और स्थिरता की स्थापना के साथ-साथ मानव अधिकारों, लोकतन्त्र, सुशासन और पर्यावरण की सुरक्षा के सन्दर्भ में, लोगों की बुनियादी जरूरतें भी भविष्य की चिन्ता का विषय होंगी। जी-20 के स्थायी सदस्य के रूप में एयू के लक्ष्य बाजार और आर्थिक अवसरों को बढ़ावा देना, सौदेबाजी की शक्ति का विस्तार करना, लोगों के बीच संचार में सुधार करना, संघर्ष, कर्त्तव्य, जवाबदेही और अधिकार के प्रति सम्मान की भावना में वृद्धि। साथ ही, संगठन, शान्ति और सुरक्षा के दीर्घकालिक वातावरण की स्थापना। एयू की सफलता के लिए सुशासन, मानवाधिकारों के प्रति सम्मान और सभी मोर्चों पर लोकतन्त्रीकरण आवश्यक है।[13]

वर्ष 2013 में, अफ्रीकी संघ ने 15 प्रमुख परियोजनाओं वाला एक कार्यक्रम एजेंडा 2063 का निर्माण किया। इसमें सभी अफ्रीकी शहरों और आर्थिक केन्द्रों को जोड़ने वाला हाई-स्पीड रेल नेटवर्क शामिल है, साथ ही संघ में शामिल होने के लिए वीजा की आवश्यकता को खत्म करने और महाद्वीप पर सभी संघर्षों पर रोक लगाने की भी योजना है। एजेंडा 2063 का कार्यान्वयन अगले दस वर्षों के दौरान सड़कों और संचार बुनियादी ढाँचे के निर्माण, कृषि उत्पादन को बढ़ावा देने और अधिक ऊर्जा उत्पादन पर ध्यान केन्द्रित करेगा।[14]

एजेंडा 2063 की केन्द्रबिन्दु परियोजनाओं में से एक, अफ्रीकी महाद्वीपीय मुक्त व्यापार क्षेत्र जैसी विशाल पहल से लाखों अफ्रीकी लोगों को लाभ हो सकता है। पिछले कई वर्षों में एएफसीएफटीए के प्रभावी कार्यान्वयन को देखते हुए भविष्य में भी इसी प्रकार की आशा की जा सकती है।

निष्कर्ष

बहुसंरेखण के इस युग में जी-20 को अफ्रीकी संघ से और अफ्रीकी संघ को जी-20 से बहुत उम्मीदें हैं। अफ्रीकी संघ एक साझा अफ्रीकी पहचान का प्रतिनिधित्व करने के अलावा पूरे विश्व में एक अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बनाना चाहता है। जी-20 के सदस्य के रूप में अफ्रीका को राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक रूप से और आगे बढ़ने का अवसर मिलेगा। परिणामस्वरूप, बदलते वैश्विक सम्बन्धों के बीच अफ्रीकी महाद्वीप को और समृद्ध होने के लिए भारत-जापान-अफ्रीका जैसे अन्य त्रिकोणीय समीकरणों के बनने की भी आशा जागी है। वैश्विक प्रतिस्पर्धा के इस दौर में नियोजित संस्थाओं की सदस्यता अफ्रीकी संघ के लिए सकारात्मक विकास की ओर एक कदम है। आशावाद से भरा हुआ आज का अफ्रीका जी-20 के स्थाई सदस्य के रूप में जबरदस्त धैर्य और अटूट राजनीतिक संकल्प के साथ आगे बढ़ता हुआ प्रतीत होता है। अतः अफ्रीकी संघ को व्यवहार में अपनी विशिष्टता प्रदर्शित करने की और अधिक आवश्यकता भी होगी। इस प्रक्रिया में वैश्विक धारणीय विकास एक नयी ऊँचाई को प्राप्त करेगी। जी-20 समूह का भूगोल के एक नये इलाके में प्रवेश हुआ है, उसकी व्याप्ति बढ़ी है। अफ्रीकी संस्कृति, विचार और परम्परा के रंग जी-20 को इन्द्रधनुषी आभा प्रदान करेंगे।

सन्दर्भ

1. Methews K, Birth of the AU, Africa Quarterly, Vol.41, 2001, p.113.
2. Methews K., Birth of the AU, op. cit, p.114.
3. Significance of the Launch of the AU? AU Report, South Africa.
4. Baffour's Beefs, Why Africa must unite, New African, Jan.2000, p.7.
5. Constitutive Act of the AU, July 2000, p.7-8.
6. livemint.com, 9 September, 2023.
7. टाइम्स ऑफ इंडिया, 10 सितंबर 2023
8. African Union joining G-20: Significance for India, September 13, 2023, Dr. Prashant Prabhakar Deshpande in Truth, Lies and Politics, India, World, Times Of India.
9. 7 October 2023Outlook: G20: India Lends Voice to The African Union, Facilitates Inclusion in The Group of 20.
10. Indian express Sep 16, 2023 African Union in G20: A look at the G20's latest member
11. The Economics times 9 September 2023, The African Union is joining the G20, a powerful acknowledgement of a continent of 1 billion people.
12. द हिंदू, 8 सितंबर 2023
13. Business News, G-20 Summit: African Union becomes permanent member of G-20 under India's presidency, 09 Sep 2023.
14. Indian express, Sep 16, 2023 African Union in G20: A look at the G20's latest member

■

हिन्द स्वराज : एक वायलन समन्दर किनारे

प्रवीण कुमार

चिन्तन

हमें प्रतीकात्मक ढंग से समझना होगा कि जिस गतिशीलता पर हम सवार होना चाहते थे वही भूत आज हमारी सवारी कर रहा है, इस डर से कि कहीं हम पिछड़ ना जाएँ। 'गतियों' की प्राप्ति का यह दशकों का जतन श्रम, संयम और सन्तुलन के त्रिकोण को तोड़ते हुए है। गाँधी गतिशीलता के विरोधी नहीं थे बल्कि एक 'नियन्त्रित गति' की सभ्यता चाहते थे।

'एक वायलन समन्दर किनारे'[1] उर्दू भाषा के मेधावी लेखक कृशन चंदर का एक बेहद महत्त्वपूर्ण उपन्यास है। उस उपन्यास में सैकड़ो साल पुराने एक वीणा वादक की मूर्ति को, जो कि कोणार्क के सूर्य मन्दिर में स्थित था, मुम्बई के किसी महाविद्यालय की आधुनिक लड़की छू देती है। लड़की कल्पना करती है कि 'काश, इस प्रश्तर की मूर्ति में जान आ जाती!'[2] वीणा वादक के लिए लड़की की यह कल्पना वीणा वादक के प्रश्तर रूह को हिला देती है। आधी रात के अँधेरे में भगवान शंकर की जब मंडली बैठती है तो वीणा वादक शंकर जी से मिन्नतें करता है कि उसे मानव देह दे दें क्योंकि उसे प्यार हो गया है। महादेव कहते हैं कि वह आज की लड़की है और तुम सैकड़ो साल पुरानी चेतना वाले वीणा वादक। तुम भला साथ कैसे निभाओगे? पर वीणा वादक मिन्नतें करता ही रहता है। देवी पार्वती भी शंकर जी से आग्रह करती है कि ''प्रभु इसकी वीणा में हिमालय जैसी ऊँचाई तो है पर समुद्र वाली गहराई नहीं है। इसलिए कि इस वादक ने आजतक प्रेम नहीं किया।''[3] देवी के आग्रह पर महादेव वीणा वादक को साल भर के लिए मानव देह दे देते हैं। परिणाम यह निकला कि वीणा वादक ने मुम्बई तक उस लड़की का पीछा किया। दोस्त बनाया, फिर प्यार का इजहार किया और उपन्यास के अन्त-अन्त में वीणा वादक उस लड़की को गोली मार देता है।

हालाँकि उपन्यास के अन्त में शंकर अपनी शक्ति से उस लड़की को जिन्दा कर देते हैं। कुल मिलाकर उपन्यासकार दिखाना चाहता है कि देह के जवान होने भर से दो के बीच प्रेम नहीं हो सकता। भाव-बोध और मनोरचना में वीणा वादक सैकड़ो साल पुराना है,वह वो ना हो सका जो आज का युग उसे होने को कहता है। 'हिन्द स्वराज' पढ़ते वक़्त इस उपन्यास का खयाल आना अचरज में डालता है।

'हिन्द स्वराज' लिखे जाने के बरसों बरस बाद, उसमें शामिल तमाम चेतावनियों के बावजूद भारत सरकार ने आखिरकार 'भूमण्डलीकरण' की समूची प्रक्रिया को अपना लिया। अब तो भूमण्डलीकृत भारत का तीसरा दशक भी खत्म हो चुका है। ठीक ऐसे में 'हिन्द स्वराज' को फिर से सामने लाकर खड़ा करना हमारी जरूरत और मजबूरी क्या दोनों ही नहीं बनती जा रही है? पहला ही सवाल उठता है कि अब तक जो आर्थिक प्रक्रिया रही थी उसमें ऐसा क्या था कि उसे बदलकर विश्व-बैंक और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के इशारे पर उदारीकरण की प्रक्रिया को अपनाना पड़ा? मिश्रित अर्थव्यवस्था के सपनों में आखिर छेद कहाँ हुआ? या कि वह सपना ही गलत था? या कि सपना तो सही था पर शेष संसार से हम ही गति का तालमेल नहीं

लेखक कथाकार और सत्यवती कॉलेज, दिल्ली में हिन्दी के प्राध्यापक हैं।
+918800904606
pkpravirdu@gmail.com

कर पाए? क्या बाकी दुनिया की गति हमारी गति से तेज दिखी? क्या 'उस' गति को पाने का प्रयास आज तक नहीं जारी है? बुलेट ट्रेन और अबाध संचार, क्या यह 'गति' ही असली विमर्श है? आज के हिन्दुस्तान में और 1909 के 'हिन्द स्वराज' के विमर्श में 'गति' की परिभाषाएँ क्या बदल गयी हैं? क्या आज का समय गाँधी जी की तरह सोचता है कि ''देश की शक्ति के मामले में, यह केवल एक व्यक्ति का प्रश्न नहीं है। एक व्यक्ति बहुत ऊँचे उठ सकता है, लेकिन यहाँ समूची संस्था, समूचे देश को ऊँचे ले जाने का प्रश्न है।''[4]

गति को लेकर गाँधी जी का एक अपना फार्मूला है या यह कहें कि हिन्द स्वराज का मुख्य तत्व-दर्शन गति के सिद्धान्त पर ही आधारित है जिसे हमें सामाजिक 'क्वांटम थ्योरी' से समझना होगा। गाँधी जी कहते थे ''हिन्दुस्तान अँग्रेजी हुकूमत के नहीं बल्कि आधुनिक सभ्यता के पैरों तले रौंदा जा रहा है।''[5] हिन्दुस्तान की कमर में रेल के पहिये हिन्दुस्तानियों ने नहीं जड़े, अँग्रेजों ने जड़े थे पर जेट इंजन तो हमने ही जड़ा है। इस बात को हमें प्रतीकात्मक ढंग से समझना होगा कि जिस गतिशीलता पर हम सवार होना चाहते थे वही भूत आज हमारी सवारी कर रहा है, इस डर से कि कहीं हम पिछड़ ना जाएँ। 'गतियों' की प्राप्ति का यह दशकों का जतन श्रम, संयम और सन्तुलन के त्रिकोण को तोड़ते हुए है। गाँधी गतिशीलता के विरोधी नहीं थे बल्कि एक 'नियन्त्रित गति' की सभ्यता चाहते थे– ''यन्त्रों की ऊपरी विजय से चमत्कृत होने से मैं इंकार करता हूँ। और मारक यन्त्रों के मैं एकदम खिलाफ हूँ। लेकिन ऐसे सादे औजारों, साधनों और यन्त्रों का, जो व्यक्ति की मेहनत को बचाए और झोपड़ियों में रहने वाले लाखों करोड़ो लोगो का बोझ कम करें, मैं जरूर स्वागत करूँगा।''[6]

पर 'आर्टिफीसियल इंटेलिजेंस' का यह समय है। ज्ञान और सूचनाओं के विश्लेषण के मामले में मानव-मस्तिष्क से लाख गुना तेज मशीनें (चिप) बन कर तैयार हैं। पिछले एक दशक में हमने इतना ज्ञान (हर प्रकार का) और विश्लेषण 'जेनरेट' किया है जितना शताब्दियाँ नहीं कर पाईं। यदि दुनिया के आठ अरब लोगों का डाटा हो तो एक मशीन उससे हैरतअंगेज निष्कर्ष निकाल सकती है। अब हम क्या करें इस गति का? इस सांख्यिकी का? क्या वास्तव में यह रफ्तार सबके लिए है? क्या इस रफ्तार से कुछ ऐसा हो रहा है कि हाशिए के करोड़ो-करोड़ लोगों की जिन्दगियों को रोशन किया जा सके? यदि नहीं, तो गति की उपयोगिता पर बात करनी ही होगी। गाँधी 'हिन्द स्वराज' में रेल की बुराई कर चुके थे और इस किताब का जब एक और संस्करण 1938 में आया तो इसे 'एक मूर्ख व्यक्ति की रचना' कह डाला[7] गया और बहुत बाद में नेहरू ने इस किताब को 'यथार्थ से परे' कहा।[8] स्वाभाविक है कि गाँधी की रेल, डॉक्टर और वकीलों के बारे में जो राय थी उसे बिलकुल सपाट ढंग से ले लिया गया जबकि वह आने वाली सभ्यता की गति, संयम और तर्क के फिसलन पर एक टिप्पणी है। 'हिन्द स्वराज' नियन्त्रित गति का एक वायलन था जिसे एक आदमी 1909 में बजा चुका था। वह ''धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष''[9] के उस पारम्परिक ज्ञान सरोवर से निकला था जो तब दकियानूस लग रहा था पर आज जब विउपनिवेशीकरण की नयी अवधारणा पर बहस तेज हो चुकी है और भारतीय ज्ञान परम्परा के मौलिक चिन्तन के आलोक में उपयोगी दृष्टिकोण की खोज हो रही है तब यह बार-बार अहसाह हो रहा है कि 'हिन्द-स्वराज' को इतिहास में हमने बहुत सस्ते में निपटाया है। वह धुन बज तो आज भी रही है पर हमने नये शौक पाल लिए हैं जिसका नाम है 'रफ्तार'। यह रफ्तार या गति पहले प्रशासकीय स्तर पर वांछनीय थी पर भूमण्डलीकरण के बाद इसके स्वाद और तलब को व्यक्ति-व्यक्ति पर देखा जा सकता है। यह चीजें एक दिन में तो हुईं नहीं। एक लम्बी प्रक्रिया का परिणाम है यह। गाँधी जिस 'व्यक्ति' पर लगातार बल देते रहे उसे आजादी के बाद के नेहरू के मॉडल में समाज के साथ 'परस्पर' होने का अवसर ही कम मिला। दूसरे शब्दों में गाँधी एक साथ दो चीजों (व्यक्ति और समाज) पर बल देते हैं, लेकिन इन दो की परस्परता को आजाद भारत में जगह नहीं मिली, यही 'शैतानी सभ्यता' की अनिवार्य त्रासदी है। गाँधी जी ने आगाह किया था ''सच्चा लोकतन्त्र केन्द्र में बैठे हुए बीस व्यक्तियों द्वारा नहीं चलाया जा सकता।''[10] यह वही चीज है जिसे 'कामायनी' में प्रसाद भी दर्ज करते हैं। पर इतना भर कह देने से ना तो 'हिन्द स्वराज' का आकलन हो सकता है और ना ही तथाकथित 'शैतानी सभ्यता' का। रामस्वरूप चर्तुवेदी लिखते हैं ''जयशंकर प्रसाद की 'कामायनी' में देव और असुर संस्कृतियों से भिन्न, और उसकी तुलना में अधिक सर्जनात्मक मानवीय संस्कृति के विकास का आख्यान है, उसके वर्तमान संकट की समझ है और इस संकट के बचाव की संभाव्य दिशा संकेतित है। थके और पराजित मनु के प्रति अपने उद्‍बोधन का समापन 'श्रद्धा' इन शब्दों में करती है–शक्ति के विद्युत कण, जो व्यस्त/विकल बिखरे हैं, हो निरुपाय/ समन्वय उसका करे समस्त/ विजयिनी मानवता हो जाय।''[11]

जिसे प्रसाद 'समन्वय' कह रहे हैं वह क्या केवल सृष्टि का सन्तुलन था? क्या वह भोग और कर्म का सन्तुलन है केवल? वह ज्ञान-विज्ञान, कला और तकनीक के सन्तुलन से क्या नहीं जुड़ता? अपने समय की 'गति' का जो संकट है, उसे समझने के लिए उत्तर-आधुनिक विमर्श की एक शाखा 'उत्तर-संगीत' से समझा जा सकता है। टीम वुड्स के सम्पादन में उत्तर-आधुनिकता पर जो हालिया किताब आई है उसके एक अध्याय 'पोस्ट मोडेर्निज्म,पॉपुलर कल्चर एंड म्यूजिक' में लेखक की मान्यता है कि ''कॉर्पोरेट की शक्ति और उद्योग की गति ने संगीत को एक ऐसे फ्यूजन पर लाकर खड़ा किया है जिसमें संगीत के सारे मानक ध्वस्त हो चुके हैं और जिस तरह के संगीत अब पैदा हो रहे हैं या होंगे, उसका अर्थ, मानवीय जुड़ाव और क्षेत्र से कोई आवयविक रिश्ता होगा, इसकी कोई भविष्यवाणी अब सम्भव नहीं। कुल मिलकर यह (संगीत की) दुनिया अब कॉर्पोरेट और उद्योग के नियन्त्रण से भी बाहर जा चुकी है।''[12] यह बस एक उदाहरण है। ध्यान रहे कि जिसे हम आजतक संस्कृति की आत्मा मानते रहे हैं अर्थात संगीत, उसको कॉर्पोरेट और उद्योगों ने मिलकर कहाँ पहुँचा

दिया है? इसे ही कार्ल मार्क्स ने 'सेल्फ एलिनेशन' कहा था। जहाँ उत्पादक का उत्पाद से कोई भावनात्मक सम्बन्ध नहीं रहा जाता। कोरोना, डीप फेक और आर्टिफिश्यल इंटेलिजेंस पर तो अभी ठीक से बात ही नहीं हो पा रही है। कोरोना लाभ की महत्त्वाकांक्षी प्रयोगशाला से निकला वह विषाणु था जिसने पूरी दुनिया को ही लगभग निगल लिया था। लाखों-लाख मौतें तांडव कर रही थीं और हम विवश थे। लाभकारी गति की वांछनीयता हमें तबाही के कगार तक ले आई। सृष्टि का सारा सन्तुलन, आज भी डाँवाडोल है क्योंकि हम अभी तक यह नहीं जान पाए कि कोरोना के बाद हमारी देह में किस किस्म के बदलाव या प्रभाव पड़ रहे हैं। एकबारगी तो हम कोरोना महामारी से जीतते हुए खुद को देख सकते हैं क्योंकि तब तक विश्वास का संकट इतना नहीं गहराया था। इससे ज्यादा भयानक आर्टिफिश्यल इंटेलिजेंस से पैदा हुआ डीप फेक की तकनीक है जिसमें चेहरे, हाव-भाव और अभिव्यक्ति की सम्पूर्ण चोरी के रास्ते खुल गये हैं। टेस्ला कार के मालिक एलन मस्क ने तो यहाँ तक कह डाला है कि आने वाले समय में आर्टिफिश्यल इंटेलिजेंस परमाणु बम से ज्यादा खतरनाक परिणाम देने वाला है। मानव-कल्याण और अतिरिक्त श्रम को बचाने की संकल्पना और प्रण से शुरू हुआ यह 'गति' का खेल विध्वंस के मुहाने पर ले आया है। लोकतन्त्र के नाम पर उसकी कोख में बैठी पूँजीवादी शक्तियों ने नदी-नाले, पहाड़-जंगल, धरती-हवा सबको पिछले सौ वर्षों में जितना दूषित किया है उतना अबतक के इतिहास में कभी नहीं हुआ था। अब इस गति का क्या किया जाय?

'हिन्द-स्वराज' की शक्ति 'एक वायलन समन्दर किनारे' के महादेव की तरह अमोघ मानने की दावेदारी यहाँ नहीं है। पर वह शक्ति कुछ जीवन-दायिनी जरूर दिख रही है। जीवन में जब सन्तुलन नहीं दिखता तो हम उसे साहित्य और कल्पना के माध्यम से सन्तुलित करने का सपना देखते हैं। सभ्यताएँ अब तक आत्म-अवलोकन से बचती आ रही हैं। उसने अब तक की अपनी पायी हुई गति का ठीक से विलेशण नहीं किया है। दुनियाभर के पूँजीपतियों के दबाव में हर देश की अर्थव्यवस्था एवं उसकी सन्तुलित नीतियाँ जनता और उसकी सरकार के नियन्त्रण से बाहर जा रही हैं। एक रिपोर्ट के मुताबिक अब तक दुनिया में जितने हथियार इकट्ठे किये गये हैं और उनका उत्पादन व संरक्षण हो रहा है, उसमें जितना धन लगा है, उस धन से एशिया और अफ्रीका की गरीबी एक दफा नहीं बल्कि तीन-तीन बार खत्म की जा सकती थी। यह किस तरह की गति है? क्या इसका कभी विश्लेषण होगा? किशन कालजयी लिखते हैं ''एक सच्चे लोकतन्त्र में न तो किसी तरह की सामाजिक गैर-बराबरी की जगह हो सकती है और न ही किसी तरह की आर्थिक असुरक्षा की। इन दोनों कसौटियों पर परखें तो अभी हम एक पिछड़े हुए लोकतन्त्र में जी रहे हैं।''[13] समय और गति के बीच संसाधन, अवसर और विकास के समान बँटवारे से चूक का परिणाम भारत ही नहीं पूरी दुनिया भुगत रही है। उपरोक्त वक्तव्य केवल एक देश पर लागू नहीं होता। एशिया और अफ्रीका में ज्यादा हालत खराब है क्योंकि पूँजीवादी और विकसित देशों का कचरा चाहे युद्ध सामग्री के रूप में हो या तकनीक के नाम पर हो, लगातार बहकर यहाँ आ रहा है। विकास का पूरा ग्लोबल मॉडल अस्थिर है और फायदा ज्यादातर एकतरफा है।

यदि आत्म-विश्लेषण होगा तो यह तय है कि 'हिन्द स्वराज' के प्रति हमारा आज का यह आकर्षण किसी दार्शनिक और भावात्मक आग्रह की वजह से नहीं होगा बल्कि उसका आकर्षण अब किसी एक सभ्यता को ही नहीं पूरी दुनिया को बचा लेने के परिणाम के रूप में देखा जाएगा। गाँधी की जिस सादगी को अब तक अनुकरणीय आदर्श के रूप में देखते हुए सभ्यताएँ उसका महिमामंडन करती रहीं (या अवांछनीय/ अव्यावहारिक विचार मानकर निन्दा करती रहीं) वह अब धीरे धीरे मजबूरी होती जा रही है। वह पूछ रही है कि विश्व-अर्थव्यवस्था का यह कैसा मानक है कि यूक्रेन या फिलिस्तीन में चलने वाली लड़ाई और लाखों-लाख लोगो के विस्थापन और मौतों पर हम फायदे और नुकसान की निगाह से सोच रहे हैं। क्या सादगी और गति का सन्तुलन रखकर यह काम किया गया है? सवाल यह भी उठता है कि क्या ऐसा नहीं हो सकता कि हम रफ्तार को बढ़ाए रखें और सादगी को अनिवार्य मूल्य के रूप में भी अपनाए रखें? ऐसा भी भला हो सकता है? बस इसी सोच में 'हिन्द स्वराज' समय के विराट समन्दर के किनारे पड़ा हुआ है। रफ्तार की तमाम प्रतियोगिताओं के बावजूद उसमें से सादगी के सौन्दर्य की धुन लगातार अब भी उठ रही है। उसमें नियन्त्रित गति है। पर हमारे नये समय को क्या? उसके शौक का क्या?

सन्दर्भ

1. एक वायलन समन्दर किनारे, कृशन चंदर, राजकमल प्रकाशन, पेपर बैक 2019
2. वही, पृष्ठ 16
3. वही पृष्ठ 21
4. गाँधी-पटेल, भाषण और संभाषण, नीरजा सिंह,नेशनल बूक ट्रस्ट, 2012, पृष्ठ -1
5. आसमां और भी है, अदित्या निगम, सेतु प्रकाशन -2023, पृष्ठ 240
6. मेरे सपनों का भारत, गाँधी जी, संग्राहक-आर के प्रभु, नवजीवन प्रकशन मन्दिर 1960, पृष्ठ -34
7. सितम्बर 1938, 'आर्यन पाथ' के हिन्द स्वराज अंक के लिए भेजे सन्देश
8. गाँधी को नेहरू का पत्र 9 अक्टूबर, 1945, देखें पृष्ठ 153,
9. ज्ञान की राजनीति, मणींद्र नाथ ठाकुर, सेतु प्रकाशन 2023, पृष्ठ -99
10. ग्राम्य स्वराज, महात्मा गाँधी (संकलन हरि प्रसाद व्यास), नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, तीसरा मुद्रण 2007, पृष्ठ-15
11. हिन्दी साहित्य और सम्वेदना का विकास, रामस्वरूप चर्तुवेदी, लोकभरती प्रकाशन, ग्यारहवाँ संस्कारण 1999। पृष्ठ-110
12. Beginning postmodernism , Tim Woods , second edition 2017, viva books private limited, page-204
13. संस्कृति : विविध परिप्रेक्ष्य, डॉ. मुन्ना कुमार पांडे, किशन कालजयी द्वारा समय से संवाद,सीरीज-14, अनन्य प्रकाशन-2021, भूमिका से

सामयिक

तालाब ठाकुर का

राम नरेश राम

‘चूल्हा मिट्टी का/ मिट्टी तालाब की/ तालाब ठाकुर का’ जिस चूल्हे पर दलित समाज अपना खाना पकाता है उसकी मिट्टी तक पर उसका अधिकार नहीं है। जिस तालाब की मिट्टी से बना वह चूल्हा है वह भी किसी जमींदार का है। मिट्टी केवल मिट्टी नहीं है वह सम्पति है और तालाब केवल तालाब नहीं वह राष्ट्र का संसाधन है। लेकिन विडम्बना यह है कि राष्ट्र के संसाधन पर एकाधिकार किसी जाति-वर्ग विशेष का है।

लेखक जनपक्षीय मुद्दों पर नियमित लिखते हैं।

+919911643722

naynishnaresh@gmail.com

‘ठाकुर का कुआँ’ कविता दलित साहित्य की प्रथम पीढ़ी के साहित्यकार ओमप्रकाश वाल्मीकि ने सन 1981 में लिखी थी। नब्बे के दशक के आरम्भिक वर्ष में लिखी जाने वाली यह कविता हिन्दी कविता में नये प्रस्थान की तरह है। प्रगतिवादी कविता की धारा को नये सिरे से रचनात्मक और सृजनात्मक ऊँचाई तक ले जाने वाली यह कविता जिस समय लिखी गयी उस समय तक भारत में भूमि सुधार के कई प्रस्ताव और प्रयास हो चुके थे। भूदान आन्दोलन 1952 में ग्रामदान आन्दोलन के रूप में अपनी अनिवार्य गति को प्राप्त हो चुका था। भारत में भूमि स्वामित्व की असमानता को खत्म करने के लिए जे.सी. कुमारप्पन की अध्यक्षता में भूमि सम्बन्धी समस्याओं से निपटने के लिए एक समिति गठित की गयी थी। इसमें प्रस्तावित भूमि सुधार के चार घटकों में दो सबसे महत्त्वपूर्ण घटक थे–मध्यस्थों का उन्मूलन और भूमि स्वामित्व की सीमा तय करना। इसी से जमींदारी प्रथा का उन्मूलन किया जा सकता था। लेकिन निर्णयकारी शक्तियों में वंचितों के कम प्रभाव और वर्चस्ववाद की राजनीतिक मंशा के कारण यह सफल नहीं हो सका। कानून के बावजूद तीन-तिकड़म करके जमीदारों ने अपनी जमीनें बचा लीं। वर्ष 1972 में विभिन्न क्षेत्रों में भूमि के प्रकार, उनकी उत्पादकता के आधार पर अलग-सीमा के साथ राष्ट्रीय दिशा-निर्देश के बाद भी अधिकांश राज्यों में लैंड सीलिंग एक्ट लागू नहीं किये गये। ऐसे में चेतना से लैस होता हुआ कोई दलित नौजवान जब अपनी गरीबी के कारणों पर सोचना शुरू करता है तो उसको सबसे पहले यह दिखाई देता है कि उसके पास क्या नहीं है, जिसके कारण वह ‘देश की माटी’ से अलगाव महसूस करता है। जाहिर है पृथ्वी पर सबसे आदिम पूँजी पृथ्वी ही है। इस पृथ्वी के संसाधन ही आदिम पूँजी हैं और इस आदिम पूँजी, जिसको प्राकृतिक संसाधन भी कहा जाता है, पर भारतीय सन्दर्भ में तथाकथित उच्च जातियों का कब्जा अभी भी बना हुआ है। यह भी सच्चाई है कि कृषि भूमि पर अभी भी परम्परागत तथाकथित उच्च जातियों का ही कब्जा है जबकि दूसरी ओर प्राकृतिक खनिज सम्पदा और सम्पत्ति पर अब आधुनिक जमींदार यानी कि कार्पोरेट का कब्जा हो गया है। दोनों ने मिलकर देश की सारी सम्पत्ति का केन्द्रीकरण कर दिया है। ऐसे में ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविता अगर इस सच्चाई को सामने रखती है और अपनी गरीबी के मुख्य कारण के तौर पर जमीन पर या उत्पादन के साधनों से दलितों की बेदखली को चिन्हित करती है तो इसमें कोई जातिगत दुराग्रह नहीं देखना चाहिए।

‘ठाकुर का कुआँ’ शीर्षक से प्रेमचन्द की एक कहानी भी है। ओमप्रकाश वाल्मीकि की इस कविता के प्रकाशन के इतने वर्षों तक इस कविता का सचेतन संज्ञान नहीं लिया गया। संज्ञान में लेने का अर्थ है कि या तो आप कविता की सम्वेदना से एकाकार होकर उसकी भावना के पक्ष में खड़े होंगे या कविता को खारिज करके शक्ति सम्बन्धों की पारम्परिक संरचना को सहज और स्वाभविक मानकर कविता की भावना और सम्वेदना के खिलाफ खड़े हो जाएँगे। दलित समाज के साक्षर और उच्च शिक्षा प्राप्त वर्ग ने इसकी सम्वेदना से न केवल एकाकार किया बल्कि उसकी भावना की सघन अनुभूति अपने समय में और गहराई से महसूस कर रहा है। दलितों का बड़ा हिस्सा तो इस कविता से अभी भी अनभिज्ञ ही है क्योंकि कविता उन तक पहुँची ही नहीं या यूँ कहा जाये कि कविता तक वे खुद ही नहीं पहुँच पाए। ऐसा क्यों हुआ इस पर बात करने पर बात दूर तक चली जाएगी।

राजनीतिक शक्ति सन्तुलन के एक बार फिर लोकतान्त्रिक भावना के विरोध में खड़ी सामाजिक शक्तियों के पक्ष में आ जाने से संस्कृति के स्तर पर चुनौती देने वाली सांस्कृतिक और साहित्यिक अभिव्यक्तियों पर संगठित तौर पर हमला हमारे समय की क्रूर सच्चाई बनती जा रही है। राज्य सभा में इस कविता के पढ़े जाने के बाद राजनीतिक और सामाजिक तबके से जो तीखी प्रतिक्रिया आयी

है, उसका निहितार्थ यही है कि सामाजिक और राजनीतिक बराबरी की माँग करने वाली आवाज को चाहे वह जिस भी रूप में हो, खत्म कर देना चाहिए। राज्य सभा में मनोज झा ने जो भाषण दिया था वह महिला आरक्षण के भीतर दलित और पिछड़ी जाति की महिलाओं को आरक्षण न दिये जाने का सन्दर्भ था। यह तो ठीक बात है कि अब सवर्ण को भी इस बात का एहसास है कि दलितों और पिछड़ों को उनका उचित प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए। राजनीतिक लाभ के लिए ही सही लेकिन मनोज झा ने स्वागत योग्य वक्तव्य दिया था। कुछ लोग मानते हैं कि साहित्य की कोई औकात नहीं है, वह समाज परिवर्तन में कोई भूमिका नहीं निभा सकता है। लेकिन ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविता इस बात को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि साहित्य की बदलावकारी भूमिका होती है। सत्ताधारी राजनीतिक दल की ओर से इस कविता के पाठ का संगठित और सुनियोजित विरोध सवर्ण जातियों की गोलबन्दी के उदेश्य से किया गया लगता है। दरसल दलित साहित्य तो लोकतान्त्रिक और सामाजिक बराबरी की माँग कर रहा था, वह आमूल परिवर्तन की बात भी अभी नहीं कर रहा है। लेकिन सवर्ण सामन्ती शक्तियों को अब यह भी स्वीकार नहीं है। वह प्रतिनिधित्व की माँग को अब और बर्दाश्त नहीं कर सकता। इससे उसकी सामाजिक गैरबराबरी की अमानवीय भावना उजागर हो जाती है। लेकिन विडम्बना यह है कि बिना दलित और पिछड़ों के समर्थन के वह पूँजीशाही की व्यवस्था को खड़ा भी नहीं कर सकता। यही कारण है कि गोरखपुर में दलितों के एक समूह द्वारा जमीन और अन्य मानवाधिकारों की माँग को लेकर प्रदर्शन करने के कारण उनको गिरफ्तार किया गया और कुछ ही दिनों बाद सत्ता द्वारा दलितों के 'उद्धार' के लिए सम्मेलन आयोजित किया गया। यह इसी बात को दिखाता है कि उनकी सत्ता केवल सवर्ण वोट बैंक पर नहीं बनी रह सकती है, इसके लिए उनको दलितों को जोड़ना जरूरी है।

कविता जिस वर्ग को सम्बोधित है, वह केवल दलित समाज नहीं है। प्रबोधन की दृष्टि से भले ही वह दलित समाज को सम्बोधित है लेकिन यह प्राकृतिक संसाधन पर कब्जा जमाए बैठे उस समाज को भी सम्बोधित है जिसके प्रतीक के रूप में कविता में 'ठाकुर' आया है। दरसल यह कविता राष्ट्र के संसाधनों में दलित समाज की हिस्सेदारी की नगण्यता को ही उजागर करती है। 'चूल्हा मिट्टी का/ मिट्टी तालाब की/ तालाब ठाकुर का' जिस चूल्हे पर दलित समाज अपना खाना पकाता है उसकी मिट्टी तक पर उसका अधिकार नहीं है। जिस तालाब की मिट्टी से बना वह चूल्हा है वह भी किसी जमींदार का है। मिट्टी केवल मिट्टी नहीं है वह सम्पति है और तालाब केवल तालाब नहीं वह राष्ट्र का संसाधन है। लेकिन विडम्बना यह है कि राष्ट्र के संसाधन पर एकाधिकार किसी जाति-वर्ग विशेष का है।

'भूख रोटी की/ रोटी बाजरे की/ बाजरा खेत का/ खेत ठाकुर का'–लम्बे समय तक समाज और शास्त्र द्वारा लोगों को यही बताया जाता रहा कि दरसल गरीबी पिछले कर्मों का फल है। इससे पार पाने के लिए 'सेवा' ही आप का धर्म है। लेकिन यह नहीं बताया गया कि भौतिक दुखों के स्रोत भौतिक संसार के अमानुषिक सामाजिक और संसाधन सम्बन्धों में ही हैं। यह नहीं बताया गया कि धरती जो प्राकृतिक सम्पदा है उस पर सबका बराबर का हक है। बाजरा तो धरती ही उगायेगी, लेकिन जब धरती ही किसी की व्यक्तिगत सम्पत्ति बन जाएगी तो बाकियों को तो दुःख भोगना ही पड़ेगा, जब तक धरती जैसी प्राकृतिक सम्पदा पर सभी वासियों का बराबर हक न हो जाए। ऐसे में ओमप्रकाश वाल्मीकि जब अपनी कविता के माध्यम से लोगों को यह बता रहे हैं कि हमारी भूख का मूल कारण हमारे खेत का न होना है तो इसमें वे क्या गलत कर रहे हैं। उनकी कविता तो यही कह रही है कि दलित समाज की भूख भी ठाकुरों के खेतों में गिरवी रखी हुई है। जब तक जांगर नहीं ठेठाएँगे तब तक रोटी नहीं मिलेगी। हिन्दी के मान्य उदारवादी आलोचकों ने तो इस तरह की कविताओं की भाषा को अनगढ़ और आक्रोशपूर्ण कहा है। बात अब समझ में आती है कि अनगढ़पन और भाषा में व्यक्त सृजनात्मक आक्रोश क्या होता है। दरअसल अनगढ़ भाषा और आक्रोशपूर्ण शैली के विरोध के नाम पर यह यह छुपे हुए सवर्ण-सामन्ती की ही अभिव्यक्ति थी, जिसे अनेकों वंचित तबके के विद्वानों ने लक्षित किया है। कहा गया कि दलित साहित्यकार अस्मिता और सम्मान की बात तो करते हैं लेकिन सम्मान का जो स्रोत है-जमीन, उस पर कम बात करते हैं। लेकिन यह कविता तो भारत में जमीन के अधिकार में व्याप्त असमानता खत्म करने की सम्वेदना की ओर लोगों का ध्यान खींचती है।

हिन्दी दलित कविताओं में देश शब्द बहुत कम आता है लेकिन दलित साहित्य के प्रस्थान बिन्दु को रचने वाली इस कविता की सम्वेदना देश शब्द में केन्द्रीभूत हो गयी सी लगती है। पूरी कविता वर्ग की मार्क्सवादी अवधारणा को आत्मसात करती हुई दिखाई देती है। 'हल ठाकुर के बैल ठाकुर के / हल की मूठ पर हथेली अपनी/ फसल ठाकुर की' ये पंक्तियाँ तो इसी बात को कह रही हैं कि उत्पादन के सारे साधन मालिक के हैं जबकि श्रम ही केवल अपना है और उस श्रम का फल तो पूरी तरह मालिक के हैं। यह कोई औद्योगिक समाज की श्रमिक त्रासदी का चित्रण नहीं है लेकिन मध्यकालीन मूल्यों वाली कृषि व्यवस्था के भीतर पिसते हुए मजूरों की कहानी जरुर है। यह कविता देश की अवधारणा और उसकी आत्मा के मुख्य शिल्पकारों के हृदय का आक्रोशपूर्ण आर्तनाद है। जिस नाद को वर्षों से हमारा समाज और सत्ता अनसुना करती आ रहे हैं। अगर जमीन वितरण का सवाल इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है तो गोरखपुर में बहुत छोटे सामाजिक समूह द्वारा दलितों के लिए जमीन की माँग सत्ता को क्यों नागवार गुजर रही है। आखिर इसी देश के कई राज्यों ने तो उन्हीं माँगों को पूरा किया है।

कला को प्रतिमान बनाएँगे तो भी यह कविता अपने आन्तरिक तर्कशीलता और बिम्ब-ग्रहण की क्षमता के लिहाज से कलात्मक ऊँचाई तक उठी हुई है। इस कविता को लाचारगी में उठा हुआ हाथ नहीं समझना चाहिए। यह वैचारिकी का उठा हुआ हाथ है जो देश की नयी बुनियाद का दावा करता है। इस कविता की भावना यही है कि जब मिट्टी अपनी होगी, तब चूल्हा अपना होगा, खेत अपना होगा, तब बाजरे की रोटी भी अपनी होगी और अन्ततः गाँव भी अपना होगा, शहर भी अपना होगा और देश भी। नवारुण भट्टाचार्य की कविता को याद करते हुए कहना चाहिए कि–'मैं छीन लाऊँगा अपने देश को सीने में छुपा लूँगा...'

■

मुद्दा

भारतीय समाज और राजनीति का आरक्षण

राकेश रंजन

जब ओ बी सी आरक्षण की बात आई तो सरकार ने कमीशन गठित की ये जानने के लिए कि भारत में सामाजिक और शैक्षणिक पिछड़ेपन को मापने के लिए क्या आधार होगा। कमीशन ने भी 11 निर्धारक तत्व बताए जिसमें सम्पत्ति/आर्थिक निर्धारक तत्वों में शामिल नहीं है। साथ ही यह कहा कि भारतीय समाज में सामाजिक और शैक्षणिक पिछड़ापन को मापने के लिए जाति से बेहतर निर्धारक तत्व कुछ और नहीं हो सकता है। इसलिये जब शोषण का आधार जाति पर आधारित सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक संरचना है तो आरक्षण का आधार आर्थिक कैसे हो सकता है?

‘सकारात्मक कार्यवाही’ को अमेरिका में ‘सकारात्मक भेदभाव’ ब्रिटेन में ‘सकारात्मक कार्य’, कनाडा में ‘रोजगार निष्पक्षता’ तथा भारत और नेपाल में आरक्षण के नाम से जाना जाता है। यह संवैधानिक व्यवस्था किसी ऐसे समूह को विभेदित करते हुए उनके पर्याप्त प्रतिनिधित्व और सहभागिता को सुनिश्चित करता है जो सामाजिक और सांस्कृतिक रूप से शोषित और वंचित रहे हों। यह व्यवस्था वैसे समुदाय के लिए की गयी जिनके साथ सदियों भेदभाव होता रहा, जिन्हें समाज में बराबरी का अधिकार कभी नहीं मिला, जिन्हें सभी प्रकार के सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक एवं अन्य इंसानी, नागरिक और संवैधानिक आदि अधिकारों से वंचित रखा गया, जिन्हें कभी ‘अवसर की समानता’ नहीं दी गयी और ना कभी एक ‘समान धरातल’ मिला। ब्रिटेन में तो यह व्यवस्था नौकरियों में आरक्षण से लेकर संसाधनों के आवंटन तक है।

किसी भी देश में आरक्षण की व्यवस्था यह इंगित करती है कि उस देश में शोषित, वंचित समुदाय है जिनका शोषण कुछ विशेषाधिकार प्राप्त लोग हजारों सालों से करते आये हैं। उनके साथ अमानवीय व्यवहार होते आये हैं। उन्हें तमाम अधिकारों से वंचित रखा गया है। उनके खून-पसीने की कमाई को हड़पा जाता रहा है। आरक्षण वहाँ की सामाजिक व्यवस्था को इंगित करता है। यह बताता है कि वहाँ की सामाजिक संरचना आलोकतान्त्रिक है, और जान-बूझ कर उस सामाजिक व्यवस्था को ऐसा बनाया गया है ताकि शोषित और वंचित समाज के लोगों का शोषण किया जाता रहे। इसे बहुत सारे विद्वान ‘संरचनात्मक अन्याय’ और ‘संरचनात्मक शोषण’ कहते है। इसलिए आरक्षण उन सामाजिक और शैक्षणिक रूप से पिछड़े, शोषित और वंचित लोगों के माथे पर नहीं बल्कि उस समाज पर कलंक है जहाँ ऐसी अमानवीय व्यवस्था है। यह उस समाज की सामाजिक न्याय की नैतिकता पर कलंक है, जहाँ जातियों के आधार पर कुछ लोग तथाकथित उच्च है और कुछ निम्न। एक इंसान द्वारा दूसरे इंसान के प्रति भेदभाव करने के लिए तमाम तरीके गढ़े गये हैं और तथाकथित निम्न जातियों को किसी भी सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, प्रशासनिक, आर्थिक आदि संस्थाओं में प्रतिनिधित्व और सहभागिता के लायक नहीं समझा जाता है। यह दर्शन, सिद्धान्त, आचार शास्त्र, नैतिकता और उसके कार्यान्वयन में अन्तर को इंगित करता है। हो सकता है भारतीय दर्शन और सिद्धान्त बहुत उच्च कोटि का हो लेकिन कार्यान्वयन के मामले में वह समानता, स्वतन्त्रता, भाईचारा, न्याय, मानवता, करुणा आदि नैतिक मूल्यों के मापदण्ड पे खरा नहीं उतरता है। आरक्षण इसी उच्च दर्शन और उस दर्शन के मूल भावना के अनुसार समाज में सभी के साथ समान रूप से कार्यान्वयन के बीच के अन्तर को इंगित करते हुए उसे पाटने की कोशिश करता है। सच्चाई यह है

लेखक बाबा साहेब अंबेडकर बिहार यूनिवर्सिटी, मुजफ्फरपुर में असिस्टेंट प्रोफेसर हैं।
+919899339892
rakeshjnu06@gmail.com

कि हमारा दर्शन बराबरी और भाईचारा का है और सामाजिक संरचना गैर-बराबरी और वैमनस्यता पर आधारित है।

दुनिया के देशों में शासन, स्वतन्त्रता और प्रतिनिधित्व का आधार योग्यता और कर्म है, लेकिन भारत में इसका आधार जाति/वर्ण विशेषाधिकार रहा है। भारत में शक्ति का स्रोत आर्थिक नहीं बल्कि जाति एवं वर्ण पर आधारित सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक विशेषाधिकार रहा है। 'तथाकथित' उच्च वर्णों/जातियों को सारे सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और आर्थिक विशेषाधिकार दे दिए गये, और 'तथाकथित' निम्न जातियों को हजारों सालों तक आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक अधिकार की बात तो दूर, उन्हें मानवीय अधिकारों से भी वंचित रखा गया। शासक और प्रशासक बनने की बात तो दूर इन्हें जानवरों के पीने वाले तलाब के पानी से भी मरहूम रखा गया। ये थी हमारी सामाजिक संरचना–सारे दर्शन, सिद्धान्त, नैतिकता आदि से मरहूम। यही कारण है कि जब संविधान सभा में संरचनात्मक रूप से इन शोषित, वंचित और पिछड़ी जातियों के प्रतिनिधित्व को सुनिश्चत करने की बात आयी तो सबसे पहले भारतीय सामाजिक व्यवस्था कैसी है और उसमें शासन, शक्ति, और शोषण का क्या आधार है उसपर गहनता से लम्बी चर्चा हुई। इस ऐतिहासिक रूप से हजारों सालों तक शोषित, वंचित, पिछड़ा समाज, जो समाज की 'संरचनात्मक शोषण' की शिकार रहा उसकी एक हद तक क्षति-पूर्ति करने की कोशिश और ऐतिहासिक गलतियों के सुधार करने की भावना से आरक्षण की व्यवस्था की गयी। आरक्षण की मूल भावना, दर्शन, सिद्धान्त या लक्ष्य था दलितों एवं पिछड़ों के प्रतिनिधित्व और सहभागिता को सुनिश्चत कर समाज में फैली गैर-बराबरी की खाई को पाटना। शिक्षा और नौकरियों में अवसर की समानता, भारत की विविधता में एकता से भरे, शोषण और भेद-भाव मुक्त एक बेहतर समाज का निर्माण करना।

एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि संविधान सभा की तमाम चर्चाओं में भी सवर्णो के आरक्षण के बारे में कभी कोई चर्चा नहीं है। इससे भी मजेदार बात यह है कि उस संविधान सभा में अधिकतम (लगभग 90 प्रतिशत) सदस्य सवर्ण ही थे। इसके बावजूद पिछड़े, शोषित और दलितों के लिए ही आरक्षण का प्रावधान किया गया। इसका सीधा मतलब है कि उन्हें पता था कि देश की गलत सामाजिक व्यवस्था के चलते कुछ समुदायों के साथ लम्बे समय (हजारों वर्ष) से शोषण और अत्याचार हुआ है। उन्हें सभी सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, धार्मिक आदि आधिकारों से वंचित रखा गया है। संविधान सभा के उन सवर्ण सदस्यों में उच्च नैतिक मूल्य भी थे। उनमें समाज में दलितों के साथ सवर्णो द्वारा संरचनात्मक रूप से इतने लम्बे अन्तराल तक शोषण करते रहने की आत्मग्लानि थी इसलिए उन्होंने अपनी नैतिक जिम्मेदारी को निभाते हुए संविधान में ऐसी व्यवस्था की जिससे पिछड़े, शोषित और वंचित समुदाय का पर्याप्त प्रतिनिधित्व सुनिश्चित हो सके और वो धीरे-धीरे समाज की मुख्य धारा से जुड़ सकें।

भारत में सवर्ण समाज कभी भी, किसी भी युग में न शोषित और वंचित रहा है, और ना ही वह भेदभाव का शिकार हुआ है। हाँ, वह हमेशा सभी प्रकार के विशेषधिकारों (जिसे दलित और बहुजनवादी विद्वान अघोषित ब्राह्मणवादी या मनुवादी आरक्षण कहते है) से युक्त रहा है। शोषक और शासक दोनो वही रहा है। अभी भी सभी सरकारी और गैरसरकारी संस्थाओं में उनकी जनसंख्या से कई गुना ज्यादा और कही-कही 90 प्रतिशत से भी ज्यादा सवर्णो का कब्जा है। इसका मतलब सवर्णो का जरूरत और जनसंख्या से कही बहुत ज्यादा प्रतिनिधित्व है। वहीं दूसरी ओर अभी भी अधिकतम संस्थाएँ ऐसी हैं जिसके सर्वश्रेष्ठ पदों पर शोषित और वंचित समुदाय के लोग आज तक नहीं पहुँच सके। इसके वावजूद वर्तमान सरकार को लगता है कि सवर्ण शोषित रहा है, उसका प्रतिनिधित्व और सहभागिता नहीं है तो सवर्णो का आरक्षण का प्रावधान सरकार और समाज की मंशा और नैतिकता पर सन्देह जरूर पैदा करता है। अपनी इस पहल से वर्तमान सरकार संविधान की मूल संरचना और भावना को तहस-नहस तो कर ही रही है, साथ ही आरक्षण के दर्शन, सिद्धान्त, और नैतिकता को भी मार रही है।

नवम्बर 2018 में जब के सी आर (के. चन्द्रशेखर राव) की सरकार तेलंगाना में मुसलमानो के लिये 12% आरक्षण का प्रावधान कर रही थी तो भाजपा ने उसका जोरदार विरोध किया। भाजपा के विरोध करने के तीन तर्क थे।

1. संविधान में सामाजिक और शैक्षणिक आधार पर ही आरक्षण का प्रावधान है, किसी अन्य आधार पर आरक्षण नहीं दिया जा सकता है।
2. सर्वोच्च न्यायालय का फैसला है कि आरक्षण की सीमा 50% से ज्यादा नहीं हो सकती।
3. चन्द्रशेखर राव एससी, एसटी या ओबीसी में से किसका आरक्षण काट कर मुसलमानो को देंगे।

उस समय भाजपा के विरोध करने के तर्कों से साफ था कि आरक्षण कोई गरीबी उन्मूलन प्रोग्राम नहीं है। आर्थिक सहयोग, गरीबी उन्मूलन और आरक्षण में अन्तर है। गरीबी उन्मूलन के लिए सरकार द्वारा तमाम प्रोग्राम चल रहे हैं। आरक्षण का सम्बन्ध प्रतिनिधित्व और सहभागिता से है। उसे भाजपा सरकार ने सवर्णो को आर्थिक आधार पर 10% आरक्षण देने का विधेयक संसद में पास किया है जिसका समर्थन भाजपा के अलावा तमाम विपक्षी दलों ने भी किया है।

जब भाजपा सरकार ने सवर्णो को आर्थिक आधार पर 10% आरक्षण देने का बिल पास किया है। तब ये सभी सवाल उनपर भी लागू होते हैं।

वैसे भारत में संवैधानिक व्यवस्थाओं और संस्थाओ का राजनीतिक इस्तेमाल होता रहा है। जहाँ तक संविधान में आरक्षण की व्यवस्था की बात है तो संविधान की किसी भी धारा में सवर्ण समाज के आरक्षण के बारे में कोई बात नहीं है। आरक्षण की व्यवस्था सिर्फ और सिर्फ सामाजिक और शैक्षणिक रूप से पिछड़े समाज के लिए है। जिसकी पुष्टि सर्वोच्च न्यायलय भी कर चुका है। वह भी तब जब राज्य/सरकार को लगे कि उस समुदाय का प्रतिनिधित्व उसकी जनसंख्या के अनुपात में पर्याप्त नहीं है।

चुनाव में जनता के मूल मुद्दे जो रोजगार, शिक्षा, स्वास्थ्य, महँगाई के साथ साथ भ्रष्टाचार आदि से जुड़े है, सब गायब। अब जनता का सारा ध्यान आरक्षण और राम मन्दिर जैसे, संवेदनशील मुद्दों के हल्ला पर आ जाएगा।

आठ लाख तक सालाना आय (यानी 66000 से भी ज्यादा प्रतिमाह कमाने वाला),

पाँच एकड़ से कम जमीन, 1000 वर्ग फीट से कम जमीन में घर, रिहायसी इलाके की अधिसूचित नगरपालिका में 109 गज और गैर-अधिसूचित नगरपालिका में 209 गज में घर वाला नागरिक इस आरक्षण को प्राप्त कर सकता है। क्या गरीबी का यह मापदंड हास्यास्पद नहीं लगता? इसका सीधा मतलब है कि सही में जिसे मिलना चाहिए उसे नहीं मिल रहा है। 'बेचारे' गरीब सवर्ण भी अब इस आरक्षण के नाम पर ठगे जा रहे हैं। हालाँकि, कुल मिलाकर सवर्ण आरक्षण भी किसी भी तरह अधिकार नहीं बल्कि एक नये प्रकार के विशेषाधिकार की ही व्यवस्था है।

इसका दूसरा पहलू है कि अब देश में जिस बहुजन राजनीति की कल्पना अम्बेडकरवादी, लोहियावादी, और देश के तमाम शोषित वंचित धारा के लोग कर रहे हैं जिनका एक नारा यह भी है कि 'जिसकी जितनी संख्या भारी उसकी उतनी हिस्सेदारी' उसकी संकल्पना को साकार करने का एक और मार्ग खुलेगा। जब आरक्षण की 50 प्रतिशत की सीमा टूट चुकी है तो सामाजिक न्याय और बहुजन राजनीति के लोग तमिलनाडु की तरह हर राज्य में जनसंख्या के अनुपात में सबको भागीदारी, सहभागिता और प्रतिनिधित्व सुनिश्चित करने का प्रयास करेंगे। यह कहना कठिन है कि यह राजनीतिक पहल भाजपा की राजनीति को आने वाले चुनाव में कैसे और कितना प्रभावित करेगा? हालाँकि इसका प्रभाव स्पष्ट रूप से भाजपा और संघ की राजनीति पर दिखने लगा है। इसका एक जबाब तो राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ प्रमुख ने बड़े स्पष्ट रूप से कहा कि 'जबतक समाज में भेदभाव है, तबतक आरक्षण चालू रहना चाहिए। उनको अपनी बराबरी में लाने तक कुछ विशेष उपाय होना ही चाहिए। इसलिए 'संविधान सम्मत' जितना आरक्षण है उसको हम संघ के लोग पूर्ण समर्थन करते है।'' इसके साथ ही भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस द्वारा जाति जनगणना की पहल और 'जिसकी जिसकी संख्या भारी, उसकी उतनी हिस्सेदारी' वाली बहुजन राजनीति को अपनी राजनीति की मुख्य धारा में शामिल करने से देश में सामाजिक न्याय की राजनीति को एक नयी ऊर्जा जरूर मिल रही है।

जहाँ एक ओर आरक्षण की मूल भावना गैर-बराबरी को पाटना/ कम करने की कोशिश करना, समाज के शोषित और वंचित समुदाय को भी समान प्रतिनिधित्व और सहभागिता को सुनिश्चित कर लोकतान्त्रिक समाज स्थापित करना है वही दूसरी तरफ संसद में स्वर्गीय अरुण जेटली ने अनारक्षित सीटो का नयी परिभाषा गढ़ दी। उन्होंने कहा कि ये 50% अनारक्षित सीट जेनेरल कैटेगिरी का है और हम अपने में से 10% सीट सवर्णो के लिए दे रहे हैं। इस विचारधारा को मानने वाले का मानना है कि यह 50% अनारक्षित सीट मात्र 10-15% सवर्णो के लिये है। उनकी समझ पे तरस ही किया जा सकता है। शायद यही कारण है कि इस सरकार के आने के बाद कई राज्यों के लोक सेवा आयोग के परिणाम में ऐसा देखने को मिला है कि पिछड़े वर्ग का मेरिट लिस्ट/मेधा सूची का न्यूनतम अहर्तांक (कट ऑफ) अनारक्षित वर्ग के न्यूनतम अहर्तांक से लगभग 20 नम्बर ज्यादा था और आर्थिक रूप से पिछड़े सवर्ण वर्ग (ई डब्ल्यू एस) का अहर्तांक के बारे में तो पूछना ही नहीं! यह सब आँकड़े तथाकथित उस मेरिट/मेधा के तर्क को भी खारिज करते हैं।

दूसरी बात उन्होंने बताई कि ये 50 प्रतिशत की सीमा सिर्फ पिछड़ी जातियों के आरक्षण पे लागू है। इसलिए ये प्रावधान सवर्ण आरक्षण पे लागू नहीं होता। जहाँ तक न्यायलय के निर्णय की बात है तो मेरी समझ से 50 प्रतिशत की सीमा लगाने के पीछे दो कारण बताए गये थे।

1. समान रूप से सक्षम सभी (आरक्षित और अनारक्षित दोनों) वर्गों के लोग को प्रतिस्पर्धा करने के लिए अवसर की समानता।
2. संवैधानिक नैतिकता।

वर्तमान सरकार जिसको आरक्षण देना है दे, लेकिन आरक्षण देने का आधार तो बताओ। संविधान में आरक्षण के प्रावधान के सम्बन्ध में तीन बातें कही गयी हैं।

1. संविधान या संविधान के किसी भी धारा में सवर्णो के आरक्षण के सम्बन्ध में एक शब्द भी नहीं है। आरक्षण का प्रवधान सिर्फ पिछड़ी जातियों या समुदाय के लिए है।
2. किसी भी समुदाय के लिए आरक्षण का प्रावधान कोई भी राज्य/सरकार तभी कर सकती है यदि उसे लगता है कि उस समुदाय का प्रतिनिधित्व पर्याप्त नहीं है।
3. आरक्षण का आधार ऐतिहासिक रूप से उपेक्षित जातियाँ जो सामाजिक और शैक्षणिक रूप से पिछड़ा है, उसके लिए है। अर्थात् आर्थिक आधार पर आरक्षण का प्रावधान नहीं है।

इसलिये सवर्ण समाज के आरक्षण के प्रावधान को पास करने के लिये सरकार को कुछ काम करने चाहिए था। जैसे–

1. संविधान में संशोधन, जिसके लिए संसद के दोनों सदन में 2/3 बहुमत से बिल पास होना चाहिये। इसके लिए जॉइंट पार्लियामेंट सेशन नहीं बुलाया जा सकता था।
2. न्यायालय में सरकार को ये साबित करना चाहिए था कि सवर्ण समाज का नौकरियों और तमाम संस्थाओं में प्रतिनिधित्व पर्याप्त नहीं है। जबकि सच्चाई यह है कि सवर्ण समाज का प्रतिनिधित्व उनकी जनसंख्या से कई गुना ज्यादा है।
3. सरकार को ये बताना पड़ेगा कि सवर्ण समाज ऐतिहासिक रूप से शोषित, वंचित और सामाजिक और शैक्षणिक स्तर पर पिछड़ा है। जबकि सच्चाई यह है कि सवर्ण समाज शाषक, शोषक और विशेषाधिकारों से युक्त रहा है।

वर्तमान सरकार के पास इसको साबित करने के लिये कोई प्रमाण नहीं है।

जब ओ बी सी आरक्षण की बात आई तो सरकार ने कमीशन गठित की ये जानने के लिए कि भारत में सामाजिक और शैक्षणिक पिछड़ेपन को मापने के लिए क्या आधार होगा। कमीशन ने भी 11 निर्धारक तत्व बताए जिसमे सम्पत्ति/आर्थिक निर्धारक तत्वों में शामिल नहीं है। साथ ही यह कहा कि भारतीय समाज में सामाजिक और शैक्षणिक पिछड़ापन को मापने के लिए जाति से बेहतर निर्धारक तत्व कुछ और नहीं हो सकता है। इसलिये जब शोषण का आधार जाति पर आधारित सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक संरचना है तो आरक्षण का आधार आर्थिक कैसे हो सकता है? हालाँकि, वर्तमान सरकार द्वारा सवर्ण आरक्षण की पहल आरक्षण विरोधियों के मुँह पर करारा तमाचा है। इसके विरोध नहीं करने से देश में स्पष्ट सन्देश यह जाता है कि ये आरक्षण का विरोध सिर्फ इसलिए कर रहे थे कि इन्हें नहीं मिल रहा था। रही बात जाति आधारित आरक्षण की

तो सवर्ण की पहचान भी तो जाति के आधार पर ही होना है। कहने के लिए इसका आधार आर्थिक है लेकिन है तो यह जाति आधारित ही। भारतीय राजनीति का स्वरूप भी ऐसा है कि इसका विरोध न संसद में हुआ और न सड़क और समाज मे। इसका दूसरा पहलू यह भी है कि यह सवर्ण आरक्षण एस सी, एस टी और ओ बी सी के 50 प्रतिशत आरक्षण को फिलहाल एक सुरक्षा कवच देने के साथ ही भारत में सामाजिक न्याय का तमिलनाडु मॉडल या 'जिसकी जितनी संख्या भारी, उसकी उतनी हिस्सेदारी' वाली मॉडल पर आधारित सामाजिक न्याय की राजनीति के लिए दरवाजा खोल दिया है। इस दौर में बिहार सरकार द्वारा जारी जाति आधारित सर्वे कराना और उसके आँकड़े प्रस्तुत करना बहुत स्पष्ट रूप से इसी राजनीति की ओर इशारा कर रही है।

ई डब्ल्यू एस आरक्षण के दो दूरदर्शी परिणाम हुए। पहला; सरकार द्वारा इसको लागू करने और न्यायालय द्वारा इसकी संवैधानिकता बहाल करने से इन्दिरा सहनी केस में न्यायालय के द्वारा लगाया गया अधिकतम 50% की सीमा अब टूट गयी। दूसरा; देश में आरक्षण विरोधी आन्दोलन को बहुत गहरा धक्का लगा। अब देश में कोई भी ऐसी जाति नहीं है जिसको आरक्षण नहीं मिलता है। इसलिए आरक्षण को कलंक मानने वाले लोग अब खुद भी कलंकित हो गये। उनके सभी तर्क बेतुके साबित हो गये है। यदि सच में आरक्षण गलत है तो सवर्णो को इसे ठुकरा देना चाहिए था और आरक्षण विरोधी आन्दोलन करने वालों को इस आरक्षण के खिलाफ भी पूरे देश में एक मजबूत आन्दोलन खड़ा करना चाहिए था। लेकिन ऐसा कुछ भी नहीं हुआ। इसका सीधा मतलब है कि इनका आरक्षण का विरोध ढकोसला है।

अब सवाल यह उठता है की हम कब तक आरक्षण-आरक्षण खेलते रहेंगे। कब तक देश की राजनीति जातियों के बीच उलझी रहेगी और राजनीतिक पार्टियाँ जनता के मूल समस्याओं से भागने के लिए जाति और आरक्षण का इस्तेमाल करती रहेगी? इसका एक जबाव तो अब आरक्षण का पुरजोर विरोध करने वाला संघ प्रमुख द्वारा ही दिया जाने लगा है। कल तक जो इतिहास को झुठलाने में लगा था वही अब इतिहास को खुद स्वीकार करने लगा है दलित और पिछड़ा समुदाय को हजारों साल तक शोषण के इतिहास को स्वीकारते हुए सवर्ण समाज को कम से कम 200 वर्षों तक आरक्षण को सहने की सलाह दे रहे है और यह भी स्वीकार रहे है कि समाज में 'जब तक जाति के आधार पर भेदभाव है, तब तक आरक्षण लागू रहना चाहिए'। हालाँकि यह भी समझना उतना ही महत्त्वपूर्ण है कि यह जाति और उनका अपर्याप्त प्रतिनिधित्व ही है जिससे आज स्थिति यह है कि समतामूलक समाज स्थापित करने वाली सभी संविधानिक प्रावधान सरकार और राजनीतिक पार्टियों के चुनाव जितने और सत्ता हथियाने के औजार बन गयी है। लेकिन सबसे महत्त्वपूर्ण सवाल यह है कि चाहे राजनीति का स्वरूप जो भी रहा हो, या भविष्य की राजनीति का स्वरूप जो भी रहे, क्या देश के संविधान निर्माताओं के सपनो का वो समतामूलक समाज बन पाएगा जिसमें आरक्षण की जरूरत ही ना पड़े? सभी वर्गों का समान रूप से देश के निर्माण में प्रतिनिधित्व और सहभागिता हो और समाज समानता, समरसता, स्वतन्त्रता, और भाईचारा के दर्शन और नैतिकता के सिद्धान्तों पर चले। यह भी सत्य है की किसी भी समाज को पूर्णतः शोषण मुक्त बनाना एक सपना ही है, क्योंकि कोई भी समाज पूर्णतः शोषण मुक्त नहीं हो सकता, समय और समझ के साथ शोषण का स्वरूप या आधार बदलता रहा है। जैसे, अन्य देशों में जाति पर आधारित शोषण नहीं है, रंग/नस्ल पर आधारित है, वर्ग पर आधारित है। भारतीय समाज का ही उदाहरण लिया जाय तो भारत के तमाम संस्थाओं में होने वाले भेदभाव का स्वरूप अलग है, लेकिन यह भी उतना ही सत्य है कि भारतीय संस्थाओं में भी होने वाले भेदभाव और शोषण जाति पर ही आधारित है। हालाँकि कई विद्वानों का यह भी मानना है कि इसका कारण उन संस्थाओं में इन शोषित और वंचित समुदाय/जाति का उचित प्रतिनिधित्व का नहीं होना है।

इसलिए वर्तमान राजनीति और सरकार के लिए उतना ही महत्त्वपूर्ण सवाल है कि भारतीय समाज में शोषण का आधार बदला जा सकता है क्या? उदाहरण के लिए अन्य देशों जैसा अमीर द्वारा गरीब का शोषण। लेकिन उसके लिये जाति के पहचान को पूर्णतः खत्म करना पड़ेगा और इंसान की पहचान सिर्फ गरीब और अमीर से होगा। इसके लिए हमें देश में जाति व्यवस्था खत्म करके सबका समान रूप से सामाजीकरण करने की व्यवस्था अपनानी पड़ेगी। इसको साकार करना मुश्किल नहीं है, सिर्फ हममें नैतिकता और इच्छाशक्ति की कमी है। इसके लिए मात्र दो आसान उपाय है। एक समान शिक्षा व्यवस्था और लोगों द्वारा विशेषधिकारों और आवश्यकता से अधिक सम्पत्तियों का त्याग, जिसको गाँधी ट्रस्टीशिप/सरपरस्ती कहा करते थे। पहला व्यवस्था सरकार की इच्छाशक्ति पर निर्भर करता है और दूसरा समाज की नैतिकता पर। पहला काम तो आसान है लेकिन दूसरा काम के लिए पेरियार, अम्बेडकर, गाँधी, लोहिया आदि जैसे जन-नेताओं के बिना सम्भव नहीं। समाज को खुद आगे आना पड़ेगा। हालाँकि, ऐसे नेताओं के अभाव में समान शिक्षा व्यवस्था लागू करने के अलावा सरकार को कुछ ऐसा कदम उठाना चाहिए। जैसे–

1. सभी सरकारी और गैर-सरकारी संस्थाओं में सभी समुदाय/वर्गों का उनके आबादी के अनुपात में प्रतिनिधित्व एवं हिस्सेदारी को सुनिश्चत किया जाय।
2. सभी सरकारी और गैर-सरकारी, संगठित और असंगठिक संस्थाओं में होने वाले लाभ को उसके कर्मचारीयों और मजदूरों का भी उनके योगदान के अनुसार हिस्सेदारी सुनिश्चत किया जाय ताकि धन का जमाखोरी रोका जा सके।

निष्कर्षतः मेरा खयाल है कि इस देश का दुर्भाग्य रहा है कि कई मामलों में समस्या सामाजिक और सांस्कृतिक होती है और उसका निदान हम राजनीतिक और प्रशासनिक रूप से ढूँढते है। निःसन्देह राजनीति से बड़ा हथियार कोई नहीं लेकिन वर्तमान राजनीति में हम नैतिकता, मूल्य, दर्शन और सिद्धान्त ताक पर रख दिए है और राजनीति सिर्फ चुनाव जितने और सत्ता पाने तक सीमित रह गया है। राजनीति का यह वर्तमान परिदृश्य सिर्फ आरक्षण की राजनीति की तरफ नहीं वल्कि 'राजनीति का आरक्षणीकरण' की तरफ बढ़ चुका है उस दौर में मेरा मानना है कि भारतीय समाज को महात्मा फुले, पेरियार, अम्बेडकर, गाँधी, लोहिया आदि जैसे नेताओ की जरूरत है जो समाज में पैदा होते हों संसद में नहीं।

■

क्यों करें सप्ताह में सत्तर घण्टे काम

प्रेरणा

जाने-अनजाने 'इंफोसिस' के संस्थापक श्री नारायण मूर्ति ने देश में एक बहस छेड़ दी है। मोहनदास और नारायण मूर्ति किसी दौर में साथ काम करते थे। एक पोडकास्ट में दोनों चर्चा कर रहे थे कि विकास की रफ्तार कैसे बढ़ाई जाए। नारायण मूर्ति ने उस बातचीत में कहा था कि देश के विकास के लिए नौजवानों को चाहिए कि वे सप्ताह में 70 घंटे काम करें। उन्होंने उदाहरण देते हुए यह भी कहा था कि जिस तरह जर्मनी, जापान ने दूसरे विश्वयुद्ध के बाद अपने देश को खड़ा करने के लिए जी-जान से मेहनत की, भारत के नौजवानों को भी वैसी ही मेहनत करनी होगी। प्रतिक्रिया आयी कि भारतीय दरअसल कितने घण्टे काम करते हैं? शहरों में काम करने वालों के घण्टे किस तरह गिनेंगे? अपने काम पर जाने के लिए जो लोग घण्टों सफर में बिताते हैं, वे इस हिसाब में जुड़ेंगे या नहीं? महिलाओं का क्या, जो चौबीस घण्टे, सातों दिन घर के काम करती हैं, बच्चे सँभालती हैं और कमाई भी करती हैं? गाँव में किसान बिजली के इंतजार में रात-रात भर जागते हैं, उसका हिसाब कौन रखेगा?

बड़ी संख्या में मजदूर दूसरे राज्यों में जाकर सप्ताह में 70 घण्टे से कहीं ज्यादा मेहनत करते हैं ताकि चार पैसे बचाकर घर भेज सकें। कोविड के दौरान जब हजारों कामगार शहरों से अपने गाँव की तरफ लौटने लगे थे तब कहीं देश और इसके शासकों को पहली बार पता चला था कि दौड़ते-भागते हमारे आधुनिक शहर किसके कन्धों पर खड़े हैं! ट्विटर पर एमके निधि बताते हैं कि केरल से प्रति सप्ताह चलने वाली 35 सीटों की एक बस ओडिशा के लिए एक सीट का 3500 रुपए किराया लेती है और कभी खाली नहीं चलती। कोई हिसाब लगाएगा कि ये मजदूर प्रति सप्ताह कितनी मेहनत करते होंगे ताकि टिकट और अपने दैनिक खर्च निकाल सकें तथा घर भी पैसे भेज सकें?

विकास एक आधुनिक परिकल्पना है। ज्यादा-से-ज्यादा और जल्दी-से-जल्दी पाने की तीव्र इच्छा विकास की गाड़ी को दौड़ाते हैं। यह सपना देखना और दिखाना कि कैसे कोई एक आदमी पाँच रुपया और लोटा लेकर गाँव से चला था और कुछ ही वर्षों में देश का सबसे अमीर आदमी बन गया, विकास की कहानी का एक अध्याय लिखता है। फिर यह कि कितनी जल्दी हम पाँच ट्रिलियन की अर्थव्यवस्था का ओहदा हासिल करें, दुनिया की तीसरे नम्बर की अर्थव्यवस्था बन जाएँ, यह विकास की दूसरी कसौटी है। आज तो इसे एक राष्ट्रीय उद्देश्य का दर्जा ही दे दिया गया है।

जा रहा है कि इसके लिए देश का हर नागरिक हाड़तोड़ मेहनत करे, एक सप्ताह में 70 घण्टे तो कम-से-कम करे ही! इन सभी सपनों में जो बात छिप जाती है या छिपायी जाती है वह यह है कि एक किसान / मजदूर या कारकून के लिए ईमानदारी से मेहनत करते हुए करोड़पति बनना वह सपना है जो कभी साकार नहीं होगा। ऐसे सपने दिखाकर कुछ गिने-चुने लोग तेजी से देश के सबसे अमीर आदमी बन सकते हैं, यह तो हम प्रत्यक्ष देख ही रहे हैं। इस खेल की शर्त ही यह है कि सभी जी-जान लगाकर दौड़ें, ताकि कोई एक या दो जीत सके और राष्ट्रीय गर्व का प्रतिमान खड़ा कर सके।

क्या यह बात सूर्य की तरह साफ नहीं है कि हमारे समाज में पूँजी और बुद्धि को अनुपातहीन और बेमेल महत्त्व दिया गया है? वैसे सभी जानते हैं कि बिना श्रम के पूँजी का कोई अर्थ नहीं है, लेकिन मानते नहीं हैं। जीवन के लिए यदि ये दोनों जरूरी हैं तो यह भी जरूरी है कि इनकी हैसियत बराबर की मानी जाए। इसे इस तरह भी समझा जा सकता है कि बीमारी की रोकथाम ज्यादा महत्त्वपूर्ण है या उसका इलाज? आप झट से जवाब देंगे : रोकथाम ज्यादा महत्त्वपूर्ण है! लेकिन अगर रोकथाम ज्यादा महत्त्वपूर्ण है तो हमारा सफाई कर्मचारी उस रोकथाम का पहला सिपाही है; उस सफाई कर्मचारी को डॉक्टर से पहले रखना चाहिए। यही बात खेती और उद्योग पर भी लागू होती है। पूँजी, बुद्धि और श्रम का ऐसा गलत समीकरण हमने बना रखा है कि श्रम को पूँजी के सामने हम कुछ मानते ही नहीं हैं।

नारायण मूर्ति इसी के भोले शिकार हैं। कम्प्यूटर, सॉफ्टवेर और अब अर्टिफीशियल इंटेलिजेंस–इन सबकी दिशा में हम गये ही इसलिए कि इंसानी मेहनत / श्रम को बचाया जा सके या उस पर होने वाला खर्च कम किया जा सके। हमारी स्कूली शिक्षा विद्यार्थियों को पढ़ाती है कि श्रम करना नीचा है, उससे कोई विकास नहीं होता। शिक्षा व व्यवस्था तो ऐसी बनाई है मूर्ति जैसों ने और फिर कहते हैं कि 70 घण्टे युवकों को मेहनत करनी चाहिए!

मनुष्य अपनी रोजी-रोटी के लिए श्रम करता है! जब रोटी महँगी हो जाती है तो वह और ज्यादा मेहनत करता है। अभाव में जीने वाले करोड़ों लोग पहिए पर दौड़ने वाले चूहे की तरह सतत दौड़ते रहते हैं। पूँजी पर चलने वाली व्यवस्था का यह आधारभूत नियम है कि पूँजी तभी तेजी से बढ़ सकती है जब श्रम सस्ता हो; नैसर्गिक संसाधनों को लूटने की खुली छूट हो; सरकारी टैक्स कम-से-कम हों; टैक्स की चोरी व्यवस्था के भीतर की जा सकती हो। इसलिए नारायण मूर्ति जैसे लोग जब युवाओं से 70 घण्टे मेहनत की बात करते हैं तब वो उनकी बात करते हैं जिनके श्रम का कोई मोल नहीं और विकास के पहिये में सभी जुत जाएँ, ताकि दो-चार लोग दुनिया के सबसे अमीरों में अपना नाम लिखवाएँ और विश्वगुरु बन जाएँ।

गाँधीजी जब 'दूसरी गोलमेज परिषद' के लिए इंग्लैंड गए थे तो उनसे बार-बार निवेदन किया गया था कि आप यहाँ तक आ ही गए हैं तो अमेरिका के लोगों के बीच पहुँचकर, उन्हें भी अपना सन्देश दें। आइंस्टाइन ने भी गाँधीजी से ऐसा ही अनुरोध किया था। गाँधीजी ने जवाब में तब जो कहा था वही आज भी भारत व दुनिया के लिए सबसे मतलब की बात है। उन्होंने कहा था कि जब तक अमेरिका पूँजी के पीछे की अपनी पागल दौड़ छोड़ता नहीं है, उसे देने के लिए मेरे पास कुछ है ही नहीं। इसलिए मूर्ति यदि 70 घण्टे की मेहनत की पैरवी के साथ यह भी बता सकें कि युवाओं को इतनी मेहनत क्यों करनी चाहिए, तो गाँधीजी और हमारा सबका ज्ञानवर्धन हो सकेगा। (सप्रेस)

■

लेखिका सामाजिक कार्यकर्त्ता और गाँधीवादी-अर्थशास्त्र की अध्येता हैं।

भारत का भविष्य और ज्ञान-संस्कृति

राजीव रंजन प्रसाद

समाज

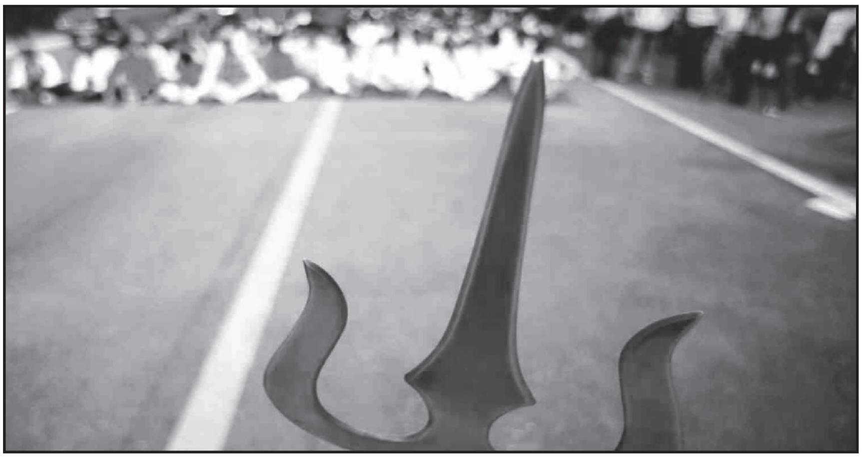

आज सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के चरम पर 'हिन्दुत्व' जैसी शब्दावली है। ऐसा आजादी के पहले नहीं था, बाद में गढ़ा गया। लालकृष्ण आडवाणी कहते हैं—''दीनदयाल उपाध्याय जी के समय तो हम हिन्दुत्व शब्द का भी उपयोग नहीं करते थे, भारतीयता की ही बात रहती थी।'' पिछले एक दशक से जो सरकार केन्द्र और बहुतेरे राज्यों में है—वह हिन्दुत्व को आलोकित किए हुए है।

वर्तमान भारतीय समाज पर नजर डालें तो आज भारतीय समाज की बेचैनी बढ़ी हुई है और आश्चर्य है कि उन्हीं तकलीफों के बीच भी मंगलकामनायुक्त तृप्ति की आस बची हुई है। इस बेचैनी और उम्मीद की आकांक्षा ने उसे हर तरह की उत्तेजना और तीव्रता को सह लेने के लिए तैयार कर लिया है। प्राकृतिक आपदाओं सहित पर्यावरण असन्तुलन तक के प्रकोप पर उसकी दंतुरित मुसकान चार्ल्स डार्विन के अनुकूलन की ही सम्प्राप्ति है जिसकी वजह से भारतीय समाज हर तरह की बुराइयों, खराबियों, दुर्बलताओं, व्यसनों, कुरीतियों, समस्याओं इत्यादि का सामना कर पा रहा है। अपराध, दुष्कर्म, लूट, भ्रष्टाचार, हत्या, हिंसा आदि के साथ लड़ना और उसे टक्कर देना जान गया है क्योंकि उसने यह मान लिया है कि स्वर्ग कहीं नहीं है, लेकिन नरक सर्वत्र है। यह और बात है कि इन दिनों जनतन्त्र से चिढ़ी हुई राजनीति में वैचारिक सम्वेदना और विवेक की भारी कमी है। पक्ष और प्रतिपक्ष दोनों कौड़ी के तीन हैं जिनसे बेहतर की उम्मीद निराश करने वाली है। भारतीय राजनीति ने अपनी व्यवस्थाजन्य शिथिलता और वैचारिक उथलेपन को जनता की चित्तवृत्ति पर लाद-थोप दिया है। फलतः ''इतिहास के सही प्रस्तुतिकरण की अनदेखी की जा रही है और एक विकृत, पूर्वग्रहग्रस्त परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत किया जा रहा है। साथ ही, इसमें भारतीय इतिहास की समन्वय, सहनशीलता और उदारता की परम्परा को कमजोर दिखाते हुए संघर्ष और द्वेष की बातों पर बल दिया जा रहा है जो राष्ट्रीय एकता की प्रगति में बाधा बनती है और जिनसे देश में शान्ति और प्रगति का वातावरण क्षतिग्रस्त होता है।''

भारतीय आत्मा को भारत की राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था, बाजार-संस्कृति, राजनीतिक दोमुँहापन, नवसाम्राज्यवादी घुसपैठ, यान्त्रिक-तकनीकी आरोपण आदि के बारे में आँख खोलकर देखने और संवेदनशील ढंग से सोचे जाने की जरूरत है; अन्यथा भावी पीढ़ी के लिए गुलामी का नया जाला बुनने और उनको फाँसने का कार्य इन्हीं तरीकों से होना तय है जो बेहद खतरनाक सिद्ध होने वाले हैं। भारत की अमीरी 'फोटोजेनिक' और 'ग्लोरिफाइड' ज्यादा है। रामजी राय की मुख्य चिन्ता यही है कि–''समाज के एक बहुत ही छोटे हिस्से की आय में बहुत तेजी से वृद्धि हुई है, जिसमें कुलक, धनी किसान, नये-पुराने पेशेवरों और मनोरंजन के क्षेत्र में कार्यरत लोग इत्यादि शामिल हैं। यह तेजी से प्रगति करता नवधनाढ्य हिस्सा तादाद में बहुत कम होते हुए भी कहीं अधिक दिखाई देता है और उसके द्वारा किया जाने वाला अनाप-शनाप उपयोग और सम्पन्नता का भों डॉ. प्रदर्शन चिन्तनीय है। श्रमशील जनता की लगातार

लेखक राजीव गाँधी विश्वविद्यालय, रोनो हिल्स, दोईमुख, अरुणाचल प्रदेश के हिन्दी विभाग में सहायक प्रोफेसर हैं।
+9436848281
rrprgu@gmail.com

शोचनीय होती जा रही है और जीवन दशाओं की विसंगतियों में उत्तरोत्तर वृद्धि हुई है।''

भारत ने विकास और प्रगति का आधुनिक रास्ता छोड़ विश्व-नीति और वैश्विक-नेह का पूँजीवादी जुमला उछालना स्वीकार किया है। भौतिक यथार्थ को दर्शन के मिथक में बदल दिया गया है जहाँ उवाचा औरा परोसा जा रहा तथ्य, कथ्य, आँकड़े, सूचनाएँ इत्यादि ही एकमात्र सत्य है; जिसे दादा भाई नौरोजी के शब्दों में समझने की कोशिश करें, तो यह मानो ''चीनी का बना चाकू हो। मतलब यह कि कोई जुल्म नहीं हो रहा था; सबकुछ चिकना और मीठा था, पर फिर भी वह चाकू ही था।''

भारत के अन्दरुनी मुद्दों पर दखल उस 'दबाव समूह' (प्रेशर ग्रुप) का अधिक बढ़ चुका है जो पूँजी की श्रेष्ठता से पहचान और अस्मिता की लड़ाई को अब तक दबोचते और उन पर बेतहाशा आक्रमण करता रहा है। सबसे बड़ी लीला यह है कि ये वही ताकते हैं जो मुफ्त में राजनीतिक-धार्मिक झंडे-बैनर बाँटते हैं, मनभेद की खाइयों को इरादतन बढ़ाते हैं तथा देश को एक ऐसे एजेण्डे में फाँसकर रखते हैं जो देश की धड़कन या आत्मा को पहचानता ही नहीं है। पश्चिमी पूँजीदार भारतीय संसाधनों की लूट चाहते हैं और इसके लिए वह भारतीय संप्रभुता पर सीधे हमले करने की बजाए आर्थिक-तन्त्र एवं यन्त्र आधारित तकनीकी-पैठ के बरास्ते दाखिल हो रहे हैं तथा मजबूत भी। इस लूट को ज्ञान की लूट की तरह भी देखना होगा। भारतीय प्राच्यविद्या के जानकार मैक्समूलर मानते हैं कि–''ऋग्वेद की ऋचाएँ भी शिल्पकारों, गड़रियों, बंजारों और चरवाहों की रची हुई हैं जिन्हें कालान्तर में लूट के माल की तरह आर्य ऋषियों ने आपस में बाँट लिया जिन्हें हम मन्त्रद्रष्टा ऋषि कहते हैं।''

आज सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के चरम पर 'हिन्दुत्व' जैसी शब्दावली है। चहुँओर सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के प्रसादस्वरूप हिन्दुत्व का ज्ञान बँट रहा है। इस ज्ञान-कुंडली में आर्ष ऋषि अथवा ऋत-परम्परा नहीं है। वह अभिज्ञान भी नहीं है जिनसे भारतीय मूल्य और भारतीयता का भाव-बोध उद्बुद्ध होता है। फिर यह चांडाल-चौकड़ी क्या है, यह समझे जाने की जरूरत है। इस प्रसंग में आइन्सटीन की याद आती है। 1950 ई. के दशक के शुरूआती वर्षों में, एक तरफ शहर के बाहरी छोर पर बसे अमरेकियों की बढ़ती बदहाली और दूसरी ओर कोरिया-युद्ध से फलीभूत बेतहाशा समृद्धि को देख उन्होंने खेद के साथ कहा था–'अमरीका में ईमानदार लोगों की संख्या बेहद कम है।'

निःसन्देह उत्तर आधुनिक दिखते इस नये भारत का वर्तमान प्रश्नांकित करने योग्य है। यह वही भारत है जिस महाबोध की शाखाओं पर कवि राजशेखर ने चिड़ियों को घोसले बनाते भी देखा है और यह भी देखा है कि उन शाखाओं पर विषधर कैसे पलते और रेंगते हैं। आज यह वह समय है जब कुछ कुंठित विप्रजन अपने को 'बहुवचन' कहने और प्रकाशित करने लगे हैं। यह लेखन वायवीय और मनगढ़त है जबकि हरिशंकर परसाई कहते हैं–''लेखक के पास अच्छी इतिहास-दृष्टि होना चाहिए जिससे वह अतीत को वर्तमान की तरह देख सके। सभ्यता का वह सोपान, राजनीतिक स्थितियाँ, समाज की स्थिति, परम्पराएँ, लोक-जीवन, सामाजिक प्रथाएँ, उत्सव, समाज के अन्तःसंघर्ष-इन सबकी उसे कल्पना करनी होती है।'' आज के नये बौद्धिकों की बात बेमानी है जिनकी दृष्टि नंगयी और नीचता से भरी पड़ी है। कवि जसबीर सिंह चावला कहते हैं–''है यह ठूँठ का ठूँठ/विलक्षण इसमें कुछ भी नहीं।'' जबकि भारत विशेषज्ञ ज्याँ वेरेन ने भारतीय कुपमंडूकों को 'मिरर' (आईना/दर्पण स्वयं से बूझ लीजिए) दिखाते हुए उपनिषद् के हवाले से जो कहा है उसे देखकर लगता है कि पश्चिमी विद्वान भारत के बारे में अधिक सत्यनिष्ठ ढंग से जानते और भाषा में विचारते हैं–''हिन्दू धर्म बिना किसी संस्थापक, बिना किसी चर्च, बिना किसी नाम के अस्तित्व में आया है। यहाँ तक कि जो नाम इसे दिया गया है, वह भी वह भी पश्चिमी लोगों द्वारा सोचा गया। इस तरह यह यहाँ के बांशिदों की मान्यताओं और साधनाओं का समावेश है।'' मनोविज्ञानी कार्ल गुस्ताव युंग ने पाणिनि की मेधा और मनीषा से प्रभावित होकर कहा है कि भारतीय ज्ञान की शास्त्रीयता में बहुत कुछ मौलिक और नवोन्मेषी है।

यह कोई छुपी बात नहीं है कि इस घड़ी स्वयंसेवक संघ प्रदीक्षित गुरुओं का राष्ट्रीय शिक्षा नीति पर बल अधिक है। भारतीय संस्कृति के धर्म और मर्म को न जानने वाले ढपोरशंखी कोहराम अधिक मचाते हैं, लेकिन अपनी ही ज्ञान-परम्परा में समोए भारतीय चिन्तन की उर्वरता और उदात्तता पर आँख नहीं रोपते हैं। वह बाजार नियन्त्रित प्रचारू तरीका अपनाते हैं जिसमें सत्य का 'फ्लेवर' होता है, लेकिन सत्य पासंग मात्र नहीं। ऐसे में भारतीय ज्ञान परम्परा और विचार-सरणि की बात एक सतही सुरताल की तरह होती है जिसकी अभिव्यक्ति 'अहो रूपम, अहो ध्वनि' के स्वर में उच्चरित की जाती है। ऊपर से तुर्रा यह कि भारत सरकार का उपक्रम व पराक्रम 'भए प्रकट कृपाला दीन दयाला' का लीलाभाव वाला है। इस समिधा में रामलीला, कृष्ण रास और शिव-तांडव के संवृत्त में यज्ञोपवीत कराए जाने की तैयारी हो रही है। संस्कृत की ऋचाओं एवं वेदसूक्त वाक्यों से प्रेरणा लेते हुए भारतीय ज्ञान की अजानबाहु विद्याशाला खोले जाने की बात की जा रही है जिसकी गूँज-नाद से पश्चिमी ज्ञान बौना और मौनी साबित हो सकेगा तथा भारत अन्ततः विश्वगुरु बनकर सभी देश का सिरमौर कहलाएगा। यह हुंकारवादी हिन्दुत्व के उदर से पैदा हुई चेतना है जिससे स्वयं ब्रह्मा का नाभिनाल सम्बन्ध है। यदि इसे ही सार्वभौम सत्य कहा जाना नियति है, तो विज्ञान की अब तक के कृत्य और उपलब्धियों पर रोना आना स्वाभाविक है। फिर क्या है–पिपीहिरी बजाइए और खुश होइए, जयकारा लगाइए, हवन कीजिए। उन भारतीय विप्रों के अनुगामी बनिये जिनके लिए अपना जाना ही एकमात्र सत्य और राष्ट्रवादी स्वयंसेवक होना है; अन्य का जाना-गुना असत्य, छल और छद्म मात्र! ■

सिनेमा

जवान की ललकार

रक्षा गीता

पिछले 10 साल में जो बच्चे वोटर बने हैं और बनने जा रहें हैं, उन्हें शिक्षा, स्वास्थ्य और रोजगार से जुड़े सवाल एकबार को आकर्षित कर सकते हैं। फिल्म नये-नये वोटर नवयुवकों को सन्देश देती प्रतीत होती है पर इसमें दो राय नहीं कि किसी भी कला में सन्देश छिपा हुआ होना चाहिए न कि विज्ञापित। 'जवान' का मोनोलॉग अमिताभ के 'दो बूँद पोलियो' के अन्दाज में विज्ञापन अधिक प्रतीत हो रहा है जो आपको ललकार रहा है।

लेखिका कालिन्दी महाविद्यालय, दिल्ली के हिन्दी विभाग में सहायक आचार्य हैं।
+919311192384
rakshageeta14@gmail.com

1996 में कमल हसन के डबल रोल साथ तमिल फिल्म आई थी 'इण्डियन', हिन्दी में 'हिन्दुस्तानी'। एक स्वतन्त्रता सेनानी जो भ्रष्टाचार को जड़ से खत्म करना चाहता है लेकिन उसका अपना बेटा भ्रष्टाचार में लिप्त है। 1998 की अनिल कपूर की 'नायक' जो तमिल की हिट फिल्म 'मधुलवन' का रीमेक है, हिन्दी में फ्लॉप रही। 2005 में मनोवैज्ञानिक एक्शन थ्रिलर 'अन्नियन'– हिन्दी में 'अपरिचित'– ने भी खूब धूम मचाई जिसका सीधा-सादा नायक भ्रष्टाचार से त्रस्त है, आम जनता में जागरूकता बढ़ाने के लिए 'अपरिचित' नामक व्यक्तित्व गढ़ता है और भ्रष्टाचार के खिलाफ अपने तरीके से जंग लड़ता है। 2007 में आई 'शिवाजी द बॉस' जिसका नायक जब शिक्षा और स्वास्थ्य क्षेत्र में निःस्वार्थ सेवाएँ देना चाहता है तो पूँजीपतियों और नेताओं का भ्रष्टाचार अवरोध बनता है तब नायक रजनीकान्त अपने स्टाइल में जंग लड़ता है। हाल ही में हिन्दी, तमिल और तेलगु में एक साथ फिल्म रिलीज हुई है 'जवान', जिसका नायक भी व्यवस्था से जंग लड़ रहा है लेकिन इस बार उसके साथ है पाँच कैदी लड़कियाँ जबकि नायक जेलर है जिसे बेस्ट जेलर का अवार्ड भी मिला है। इस फिल्म के निर्देशक हैं एटली, जिन्होंने उपरोक्त फिल्मों के निर्देशक एस शंकर के साथ सहायक के रूप में काम किया है। कोरोना का प्रकोप, फिर ओटीटी की लोकप्रियता, साथ साथ बड़े-बड़े निर्माता कलाकार 'बॉयकाट बॉलीवुड' से त्रस्त प्रोपेगैं डॉ. के दबाव में दक्षिण भारतीय फिल्मों के सफल फॉर्मूला को तरसती निगाहों से देख रहे थे। सम्भवतः अब आप 'जवान' फिल्म के बनने की पृष्ठभूमि और लोकप्रियता के तोड़ते प्रतिमानों को समझ जाएँगे। स्पष्ट है शाहरुख खान ने दक्षिण की ओर रुखकर एक महत्त्वपूर्ण कदम उठाया। बॉलीवुड यह कहने ही लगा है हिन्दी फिल्में अब मुख्यधारा नहीं बल्कि भारतीय सिनेमा ही है।

जवान देखने के दौरान अमिताभ कई बार याद आए, इसमें शाहरुख ने 'अग्निपथ' के अमिताभ की तरह अपनी आवाज के साथ भी प्रयोग किये हैं जो रोमांटिक नहीं लगता, तो क्या एंग्री यंग मैन (जवान) रूप बदल कर आया है? खैर जवान फिल्म अपने 13 साल के बेटे के साथ देखी, वो खूब एन्जॉय कर रहा था। मुझे भी देखने में खूब मजा आया। सच कहूँ तो 'जवान' बच्चों की फिल्म है, यानी बच्चों के लिए फिल्म है, भरपूर-विशुद्ध मनोरंजन, कोई लॉजिक नहीं, कोई तर्क नहीं, लेकिन...लेकिन...लेकिन... यह जवान पूरी व्यवस्था से टक्कर ले रहा है और जनता से अपील करता है कि आपके पास सरकार चुनने का अधिकार है, ताकत है

तो उसका उपयोग अपने विवेक से करो। कहा जा सकता है पिछले 10 साल में जो बच्चे वोटर बने हैं और बनने जा रहे हैं, उन्हें शिक्षा, स्वास्थ्य और रोजगार से जुड़े सवाल एकबार को आकर्षित कर सकते हैं। फिल्म नये-नये वोटर नवयुवकों को सन्देश देती प्रतीत होती है पर इसमें दो राय नहीं कि किसी भी कला में सन्देश छिपा हुआ होना चाहिए न कि विज्ञापित। 'जवान' का मोनोलॉग अमिताभ के 'दो बूँद पोलियो' के अन्दाज में विज्ञापन अधिक प्रतीत हो रहा है जो आपको ललकार रहा है। 'बेटे को उठाने से पहले बाप से बात कर' ये संवाद न होता तो भी शायद इतना बनावटीपन न लगता पर दर्शक इसी संवाद पर फिदा हुए हैं।

फिल्म में अगर कुछ नया है तो वह है ए आई तकनीक, मेट्रो, ईवीएम मशीन, 2000 के नोटों का उड़ना जो आजकल गायब हो चुके हैं। अन्यथा आपको इसमें 70-80 के दशक का सिनेमा याद आएगा जिसमें नायक आम जनता का मसीहा है। 90 के दशकों में विविध संस्थानों विशेषकर शिक्षा और स्वास्थ्य सेवाओं में होने वाली धाँधलियाँ भी हैं जो घुन की तरह आम जनता को त्रस्त कर रहीं हैं। पिछले दो दशकों में बैंकों का घोटाला भी है जहाँ किसानों को 40,000 के लिए आत्महत्या करनी पड़ती है जबकि अरबों का कर्जा लेने वाला विदेश भाग जाता है, बैंक और सरकार कुछ नहीं कर पाते। कहने को स्त्रीशक्ति पर केन्द्रित यह फिल्म अन्ततः यही सन्देश देती है कि बिना 'जवान' के स्त्री अधूरी है। जवान टीम की पाँचों लड़कियाँ फीमेल पांडव है जिसे सारथी के रूप में एक जवान का दिशा निर्देशन चाहिए। यहाँ सिनेमा का परम्परागत पितृसत्तात्मक चेहरा साफ नजर आता है, नायिका को भी अपनी बेटी के लिए एक पिता की जरूरत पड़ती है। यानी अभी भी स्त्री पुरुष के बराबर नहीं हो सकती। माँ गाजर का हलवा या खीर बनाने के अलावा भी क्या-क्या कर सकती है इस पर कोई संकेत नहीं? और एक सिंगल मदर का अस्तित्व संघर्ष झटके में हवा हो जाता है।

सफलता ही फार्मूला है, फॉर्मूला हिन्दी सिनेमा की विशेषता है। इन सब के बीच क्या मान सकते हैं कि ''प्रोपेगैंडा फिल्में बनाने का तनाव या दबाव कुछ कम होगा? अक्षय कुमार की ओएमजी 2 में भी कुछ ऐसा ही लगा था कि 'एक खास मकसद' को लेकर बनने वाली फिल्में सम्भवतः हाशिए पर चली जाएँगी। यह कोई भविष्यवाणी नहीं लेकिन फिल्में विशुद्ध मनोरंजन का साधन है जिसे आप नजरअन्दाज नहीं कर सकते और जिसमें व्यवसायिकता सर्वोपरि है। भारतीय फिल्में इतनी तनाव पूर्ण जीवन में कुछ क्षण के लिए आपको सुकून देती हैं आप दूसरी दुनिया में चले जाते हैं बावजूद इसके फिल्मों में कुछ ना कुछ सन्देश तो रहता ही है होना भी चाहिए। इस फिल्म में भी जो सन्देश है वह यही है कि आम जनता अपने अधिकारों को समझे! अधिकारों का सदुपयोग करें!! बच्चों की फिल्में इसलिए कहा कि हमारी आज की नयी पीढ़ी को, जनरेशन को यह जानना चाहिए कि आजादी के 75 साल में हमारे नेताओं ने देश को 'खाला का घर' समझा हुआ है! पूरी व्यवस्था 'मेस' कर डाली!! इसके पहले हमारे बच्चे राजनीति के रंग में रंगे चाहे वे सामाजिक-आर्थिक-धार्मिक रूप में भी राजनीतिक बने, फिल्म 'प्ले वे मेथड' में सन्देश देती है। कहने वाले तो यह भी कह रहें हैं कि जो काम लोकतन्त्र का चौथा स्तम्भ न कर सकी उसे शाहरुख की जवान ने कर दिखाया। लेकिन यह भी अतिवादी टिप्पणी है क्योंकि लोकप्रिय फिल्मों के सन्देश आपको उत्तेजित तो कर सकते हैं लेकिन विषय के प्रति संवेदनशील नहीं बना पाते क्योंकि त्वरित प्रतिक्रिया से वैचारिकता काम नहीं करती और सन्देश 'रात गयी बात गई' होकर रह जाता है। कहने को इसे स्त्री सशक्तिकरण से भी जोड़ा जा रहा है जब मैंने थिएटर में ट्रेलर देखा तो पहला कैमरा ''नारी-शक्ति'' के बोर्ड पर जाता है लेकिन यह भी एक भुलावा ही है बल्कि दो हीरोइन और पाँच साथियों के बाद भी नायिकाओं के लिए कोई स्थान नहीं।

फिल्म में खलनायक का गेटअप अरबों रुपये लेकर भागने वाला विजय माल्या जैसा है तो ऑक्सीजन काण्ड के माध्यम से स्वास्थ्य सुविधाओं की पोल खोली गयी है, पर्यावरण संरक्षण से बेपरवाह कॉर्पोरेट जगत पर भी एक दृष्टि डाल दी, घटिया कारतूसों के कारण आर्मी सैनिकों की शहादत है जिसके केन्द्र में भ्रष्टाचार ही है। आपका वोट ही आपको अच्छी सरकार दे सकता है एक उपदेशात्मक भाषण से सुसज्जित कई गम्भीर मुद्दों को फिल्म में एक 'सेम्पल पैकेज' की तरह इस्तेमाल किया गया है, हमारी फिल्मों में यथार्थ इसी तरह मनोरंजक ढंग से हमेशा की तरह परोसा जाता रहा है, आपको 'उड़ता पंजाब' याद होगी जिसने कोई सन्देश पैच वर्क की तरह नहीं दिया कहीं कोई मनोरंजन नहीं गीत भी कर्णप्रिय और पंजाब की राजनीति में तब बदलाव आये भी थे। जवान के सफल फॉर्मूला पैकेज के आस्वाद से हर्षाया, बौराया हमारा दर्शक 'आम जनता' में तब्दील हो पाए तो फिल्म सही मायने में सफल है।

यह समझना भी जरूरी है कि दर्शक इस महँगाई में मसाला और मनोरंजन के लिए ही थिएटर जा रहा है वह अपने पसन्दीदा लोकप्रिय सितारों की डायलॉगबाजी पर तालियाँ बजाता है, उसके एक्शन पर रोमांचित होता है, तो रोमांस और गीतों पर आनन्दित होता है थिरकने लगता है यानी पैसा वसूल। 'पुष्पा' जैसी पॉपुलर फॉर्मूला फिल्म हिट रही तब भी मैंने लिखा था कि हिन्दी सिनेमा का यह बुरा दौर है अन्यथा हिन्दी में ऐसी फिल्में खूब बनती रही हैं लेकिन जब दक्षिण भारतीय शैली में रजनीकांत के अन्दाज में हमें शाहरुख मिले तो जायका अपने पसन्दीदा तेल में डोसा बनने जैसा आएगा यानी किंग खान ने दक्षिण के फॉर्मूला को बढ़िया से भुनाया है। लेकिन दक्षिण का फॉर्मूला अधिक दिन चल पाएगा? क्योंकि हमारे सामने मराठी फिल्म सैराट का रीमेक 'धड़क' इसी तरह का फ्लॉप उदाहरण है जब गम्भीर मुद्दों को मसालों के साथ बार-बार एक ही तेल में तला जाता है तो मूल तत्व नष्ट हो जाते हैं और हाजमा भी खराब करतें है। फिल्म में ए आई तकनीक का और भी बेहतर प्रयोग किया जा सकता था जबकि पुराने गीत बजाकर गीत संगीत के साथ समझौता कर लिया पर हाँ यह एक सफल फिल्म की श्रेणी में याद की जाएगी।

■

डॉलर वाले बैंगन जी

लिये लुकाठी हाथ

नूपुर अशोक

डॉलर हमें लुभाता तो है ही, बहुत कुछ सिखाता भी है। ये हमने तब जाना जब हमने पहली बार डॉलर वाला बैंगन खरीदा।

वैसे तो इसके पहले हम हजारों बैंगन खरीद चुके थे और पकाकर, खाकर पचा भी चुके थे लेकिन डॉलर वाले की बात ही कुछ और है।

अगर आपकी कमाई रुपए में होती है और आप अपने प्रवास के दौरान डॉलर में खरीदारी करने को बाध्य होते हैं तो आपका मेन्टल कैलकुलेटर हमेशा चीजों के दाम रुपयों में जोड़कर उनकी असली कीमत समझने की कोशिश करता है। करे भी क्यों न? हवाई जहाज पर चढ़ने से पहले बोरे भर रुपयों के बदले ही तो ये चंद डॉलर के टुकड़े प्राप्त हुए थे।

देशी आदमी जब दोस्तों को इम्प्रेस करना चाहता है तो उन्हें पिज्जा और बर्गर खिलाता है। वही देशी आदमी जब विदेश पहुँचता है तो रोज पिज्जा बर्गर खाते हुए इस आशा से अपना स्टेट्स अपडेट पोस्ट करता है कि हर अपडेट के साथ वह स्वयं को अपडेटेड घोषित कर रहा है और उसकी स्टेट्स में भी इजाफा हो रहा है। लेकिन एक सप्ताह के बाद उसे पिज्जा और बर्गर की शक्ल वैसी ही लगने लगती है जैसी आज के लड़कों को दो महीने बाद गर्लफ्रेंड की सूरत लगने लगती है–आज भी वही?

जैसे महिला-पुरुष-समानता-शिविर में भाग लेने आई तन्वंगी सुन्दरी जिस सौभाग्यशाली पुरुष प्रतिभागी के चाय के निमन्त्रण को स्वीकार करती है वह सातवें आसमान पर विचरण करने लगता है। लेकिन जब वही सुन्दरी चाय के साथ भारी-भरकम 'शाय' का बिल बनाकर, समानता की बातें ताक पर रखकर उन्हें टा-टा करके चल देती है तो उन्हें बिना किसी बिल के रोज चाय पिलाने वाली अपनी पत्नी शिद्दत से याद आने लगती है। ठीक उसी तरह विदेश प्रवास के एक सप्ताह बाद आपको घर की दाल-रोटी की याद सताने लगती है।

इसी याद के सताए हुए हम अपने विदेश प्रवास के एक सप्ताह के स्वर्णिम समय की अवधि पूर्ण करने के उपरान्त वहाँ के सब्जी बाजार पहुँचे। अंडरग्राउंड कार पार्किंग, वातानूकुलित भवन, एस्केलेटर लगे प्रवेश द्वार-हम कृष्ण के महल के बाहर खड़े सुदामा की मनोदशा उस समय समझ पाए।

बाजार में सब्जियाँ भी इज्जत के साथ शेल्फ में सजी हुईं। हमारे देश के गाँवों में तो आज भी दलित आदमी भी किसी कुर्सी पर बैठने में हिचकता है। यहाँ सब्जियों की शान देख लो, जिस पंक्ति में ब्रोकोली अकड़ रही है, उसी के पास अदनी मूली भी इतरा रही है। यही ब्रोकोली जब हमारे देश आती है तो हम उसे गाजर मूली के साथ सटने भी नहीं देते। बाकायदा इज्जत से अलग टोकरी में सजा कर रखते हैं।

कोंहड़े जैसा उपेक्षित भी यहाँ बाकायदा एक चौथाई टुकड़े में कटा, सेलोफिन में लिपटा, बारकोड के साथ 2 डॉलर का प्राइस टैग दिखाकर मुँह चिढ़ा रहा था। दो डॉलर यानी सौ रुपए से भी अधिक।

आगे बैंगन जी सजे थे। बैंगन 'जी' इसलिए क्योंकि अपनी शेल्फ से उठकर आपके थैले में आने की स्वीकृति देने के लिए जो 7 डॉलर यानी साढ़े तीन सौ रुपए चार्ज करे, उसे 'जी' सर तो कहना ही पड़ेगा।

उस दिन मुझे समझ आया कि अपने मुहल्ले के मास्टर साहब के फिसड्डी बेटे ने 'उल्लू के पट्ठे' से 'जी सर' की यात्रा कैसे तय की। जिसे अपने देश की धरती पर कोई स्कूल पास होने देने के लिए तैयार नहीं था और कोई कॉलेज लेने के लिए भी नहीं, वह हवाई मार्ग से विदेशी धरती पर आकर यहाँ की किसी सुसज्जित शेल्फ में बैठा इतरा रहा था। यहाँ से जब वह अपने डॉलर वाले अवतार में वापस अपने देश में अवतरित होता है तो सारे लोग उसे 'जी सर, जी सर' कहकर ही सम्बोधित करते हैं।

उस दिन वह विदेशी बाजार मुझे कुरुक्षेत्र की तरह लग रहा था जिसमें बड़े-बड़े महारथी, जिन्हें हम अभी तक फूल गोभी, बँधा गोभी, पालक, बैंगन कहकर हिकारत की नजर से देखते थे वे सभी कौली फ्लावर, कैबेज, स्पिनेच और एग्प्लान्ट जैसे नामों के टैग लगाए अपने डौलर वाले दामों की तलवारें मेरी ओर चमका रहे थे–कोई तीन सौ, कोई चार सौ-पाँच सौ!

उस दिन मुझे कृष्णवर्णी बैंगन ने महाज्ञान दिया–देखा तुमने, अभी तक तुम मुझे काली-कलूटी-बैंगन-लूटी कह कर चिढ़ाते रहे। मुझे खाने की मेज पर देखते ही नाक-भौं चढ़ाते रहे। इसीलिए मुझे अपने देश की धरती का त्याग कर यहाँ आना पड़ा।

यहाँ एग्प्लान्ट का नाम पड़ते ही मेरी कीमत भी बढ़ गयी और इज्जत भी। आज तुम भले ही अपने सात डॉलर बचाकर निकल जाओ लेकिन सत्य यही है कि तुम एक दिन लौट कर आओगे और मुझे मेरी कीमत अदा कर इज्जत के साथ लेकर जाओगे। उसी बैंगन की कसम, हमने मास्टर जी के बेटे सहित देश के अन्य सभी बैंगनों से क्षमायाचना की, चुपचाप डॉलर वाले 'बैंगन जी' को उठाया और ससम्मान अपने थैले में स्थापित किया।

लेखिका कवयित्री, चित्रकार एवं सॉफ्ट स्किल ट्रेनर हैं।
+919831171151
dr.nupurjaiswal@gmail.com

■